

# आचार्य सन्त भीखणजी

( जीवन-चरित्र और अध्ययन )

लेखक :

श्रीचन्द रामपुरिया बी० एल०

प्रकाशक :

हमीरमल पूनमचन्द रामपुरिया  
सुजानगढ़ निवासी

**मुद्रक**  
नवयुवक प्रेस,  
३ कर्मागल बिल्डिंगस, कलकत्ता  
(नताजी सुभाष रोड)

प्रथम सस्करण सन् १९४८ १००० प्रति  
प्रकाशक द्वारा महासमा को अर्पित  
द्वितीय आवृत्ति सन् १९४८ २००० प्रति

श्रीन रूपय

## भूमिका

प्रातःस्मर्णीय श्रीमदाचार्य श्री भीषणजी स्वामी का यह जीवन-चरित्र पाठकों के समक्ष रखते हुए बड़ा हर्ष होता है। स्वामीजी का जीवन इतना महान्, तेजस्वी और पवित्र है कि उसमें अवगाहन करने से परमानन्द की सहज प्राप्ति हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। स्वामीजी की जीवनी के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों खोज की जाती है, त्यों-त्यों अधिकाधिक सामग्री उपलब्ध होती जा रही है और अब हमारी धारणा हो गयी है कि स्वामीजी के जीवन-चरित्र की व्यापक शोध के लिए कम-से-कम १० वर्ष के संलग्न अध्ययन की आवश्यकता है। स्वामीजी की सफल जीवनी वही लिख सकता है, जिसे जैन-सूत्रों का संस्कारी ज्ञान हो और जिसे सूत्रों की सूक्तियां और आज्ञाएँ जिह्वाग्र हों, क्योंकि स्वामीजी का समूचा जीवन सूत्रों की परछाया या उनकी प्रतिध्वनि है। जैन-संस्कृति और जैन-जीवन के वे एक महान् प्रतीक थे। जिन-वचनों में अटूट श्रद्धा उनके जीवन का ताना-बाना था। शुद्ध जैन साधु-जीवन और श्रावक-जीवन उनके तपस्वी जीवन की महान् और अनन्य देन थी। इस जीवन चरित्र के प्रथम खण्ड में हमने स्वामीजी की जीवनी और दूसरे खण्ड—'जीवन-विश्लेषण' में स्वामीजी के जीवन की विशेषताओं को अङ्कित करने का प्रयास किया है। स्वामीजी के जीवन की सामग्री इतनी प्रचुर और इधर-उधर बिखरी हुई है कि एक दीर्घ समय तक गम्भीर अध्ययन के बिना उसका सङ्कलन एक असम्भव सा काम है। यह जीवन-चरित्र प्रायः कलकत्ते

में ही लिखा गया है, जहाँ स्वामीजी के जीवन विषयक अप्रकाशित साहित्य एवं उनकी कृतियों की बहुत ही कम उपलब्धि रही है। जीवन सामग्री की शोध जब कभी साधु-सन्तों की सेवा का मौका लगा, की गयी और कलकत्ते में इसे लिख कर तैयार किया गया है। सम्भव है इस तरह के सङ्कलन-कार्य में घुटियाँ रही हों। पाठकगण ऐसी घुटियाँ हमारे ध्यान में लाने की कृपा करें, ताकि उन्हें भविष्य में सुधार सकें।

इस जीवन चरित्र के द्वितीय खण्ड—‘जीवन विश्लेषण’ के अन्तर्गत हमने आठ प्रकरण ही दिये हैं। प्रेस के मन्थर गति से चलते हुए कार्य को देख कर साहस नहीं हुआ कि धाकी और १६ प्रकरण, जो तैयार हैं, छपने तक प्रकाशन को रोक कर रखा जाय। इस दृष्टि से पद् मित्रों के सुभाष को स्वीकार करते हुए जीवन चरित्र जिस प्रकरण तक छप सके, वहाँ तक प्रकाशित कर पाठकों के सामने रखना उचित समझा। स्वामीजी की जीवनी की विशेषताओं को प्रदर्शित करने वाले १६ प्रकरण जो तैयार हैं और जिनके बिना ही वर्तमान संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है, दूसरे संस्करण में अन्तर्निहित रहेंगे। इन प्रकरणों के शीर्षक इस प्रकार हैं—(१) स्वामीजी के जीवन की विनोद कथाएँ, (२) स्वामीजी की धर्म-कथाएँ, (३) विराट् व्यवस्था-पुरष, (४) विचक्षण न्यायाधीश एवं न्याय-प्रेरक स्वामीजी; (५) महान् माहण और तपस्वी स्वामीजी, (६) स्वामीजी के व्यक्तित्व का प्रभाव और जग-वन्दना, (७) अनुभव-याणी और ज्ञान-याणी (८) कुत्तर प्रसंग, (९) गम्भीर रोग के चिकित्सक, (१०) दिम्बिजयी चर्चा-यादी, (११) स्वामीजी के समय के वाद और उनका स्पष्टीकरण, (१२) रोगी परिचर्या और स्वामीजी, (१३) स्वामीजी और परिभ्रमशीलता,

(१४) स्वामीजी और अद्भुत वचन सिद्धि के प्रसंग; (१५) उपाध्याय रूपमें स्वामीजी; (१६) सत्य के पुजारी और निर्भीक नेता रूप में स्वामीजी ।

इस जीवन चरित्र के तैयार करने में हमें श्री पन्नालालजी भंसाली द्वारा संग्रहित “स्वामीजी के दृष्टान्तों” से बड़ा सहारा मिला । इसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं ।

यदि यह जीवन-चरित्र पाठकों के जीवन निर्माण और स्वामीजी के जीवन-सम्बन्ध में जो गलतफहमियाँ फैलायी जा रही हैं, उन्हें दूर करने में जरा भी सहायक हुआ, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा । वैसे तो यह जीवन चरित्र स्वान्तः सुखाय ही लिखा गया है और इसे लिखते समय अनिर्वचनीय आनन्दकी प्राप्ति हुई है—आत्म-सन्तोषकी बात तो कर ही नहीं सकता, क्योंकि स्वामीजीकी जीवनी, जैसा कि मैं ऊपर लिख आया हूँ, वर्षोंके संलग्न और एकान्त स्वाध्याय की आवश्यकता रखती है, फिर भी यहजीवन-चरित्र भावी लेखकोंके लिए कुछ दिशासूचक होगा ऐसी आशा है ।

ता० ८-६-४८

१५, नूरमल लोहिया लेन  
कलकत्ता

श्रीचन्द रामपुरिया

# अनुक्रमणिका

## स्वरूप : १

### जीवन-कथा

पृष्ठ

- १—गृह-जीवन और दीक्षा ३  
 [ जन्म—यौवन—विवाह—वरग्य और दीक्षा ]
- २—दीक्षाके बाद ८ वर्ष ११  
 [ विद्यलक्षण शिष्य—राजनगरका चौमासा—एक आत्मवचना—अनुताप और प्रतिज्ञा—मौन स्वाध्याय—वापिस आचार्यके पास ]
- ३—प्रभु के पथ पर २०  
 [ सम्बन्ध विच्छेदके बाद—अयसू की मोर—बरकू में महत्त्वपूर्ण चर्चा—वीर गीतम की जोड़ी—तेरापथी नामकरण का इतिहास—नव प्रव्रज्या और प्रथम आसुर्मास—वे तूफानी दिन और मेरुकी स्थिरता ]
- ४—प्रचार काम ३५  
 [ मौन साधक—उपदेशक आचार्य—चतुर्विध सष ]
- ५—महा प्रस्थान ४२  
 [ अदृष्ट का आभास और अन्तिम उपदेश—आत्म निरीक्षण और आत्म शोधन—अनसन—आजीवन आहार परिस्थाय—अन्तिम दिन ]
- ६—जीवन सम्बन्धी सास-सास बातें ५५  
 [ महत्त्वपूर्ण वप—महत्त्वपूर्ण स्थान—आयुष्य का व्यौरा—मुद्रा और धारीर—ज म कुण्डली—प्रचार-क्षत्र—स्वामीजीकी कृतियाँ—रचनाघाका सक्षिप्त परिचय—शिष्य-सम्पदा—स्वामीजीके जीवन-चरित्रकी सामग्री ]

जीवन-विश्लेषण

- १—स्वामीजी के जीवन की पृष्ठभूमिका : ८३  
 [ आरोग्य और उसका हेतु—संस्थापक नहीं उद्धारक—अन्तर-भावना के स्फुट चित्र—यह आकर्षण क्यों ?—अन्तिम समयके दो स्फुट चित्र—जीवन का ध्रुवपद—धर्म-अधर्मका नीर-क्षीर विवेक—जिन-आज्ञाकी महानता ]
- २—एक अमाप्य महापुरुष : १०४
- ३—एक महान् आदर्शवादी सत : १०८
- ४—एक महान् क्रान्तिकारी युग-पुरुष : १२३  
 [ वह जमाना—पुनर्निर्माण की रूपरेखा—शिथिलाचार की आलोचना—श्रावको के प्रति भी ]
- ५—वैराग्य मूर्ति १५४  
 [ एक सगम—वैराग्य भाव की कथाएँ ]
- ६—संस्कारी तत्त्वज्ञानी : १५८  
 [ नव पदार्थका वैज्ञानिक विश्लेषण—पट्टद्रव्य—तत्त्वज्ञानके निर्झर—स्वर्ग-नर्क की कौन ले जाता है ?—गुरुकी परख—विधवा कैसे ?—सुख-दुःखका कारण—लाभ-अलाभका कारण—पुराने कालमें देवालय क्यों ?—कूर्मा-पुत्रके केवली होनेका खुलासा—साधु श्रावकके धर्म एक या दो ?—पुण्य वध कैसे होता है ?—सकाम-अकाम निर्जरा—नदी उतरना बनाम-फूल चढ़ाना—एक हो जायें—श्रावकमें आत्मा सात या आठ ?—ज्ञान आत्मा में—साधु कौन ?—शिल्पी नहीं—व्रत लोपका लाभालाभ—रोग कैसे हटें ?—देनेमें धर्म-पाप—पौषध और वस्त्र—रक्षा किसकी ?—गाड़ी और गदहा—स्थानक कैसे ? ]
- ७—आध्यात्मिक योगी : १८५  
 [ मृत्यु और मोह—पांच महाव्रत और उनकी संगति ]
- ८—महान् कवि : १९१

आचार्य संत भीखणजी



## गृह-जीवन और दीक्षा

### —जन्म—

सत भीखणजी का जन्म मारवाड राज्य के कंटालिया ग्राम में सं० १७८३ को आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन मूल नक्षत्र में हुआ था ।

इस दिन को 'सर्व सिद्धा त्रयोदशी' भी कहा जाता है । सत भीखणजी को बड़ी विकट और प्रतिकूल परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा था फिर भी वे अपने चरम लक्ष्य से नहीं भटके । उन्हें अपने मिशन में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई । उनका जीवन-ध्येय किस प्रकार सम्पूर्ण सिद्ध हुआ यह पाठकों को आगे जाकर स्वयं ही मालूम हो जायगा । अतः उनका इस दिन जन्म ग्रहण करना उनके सफल भावी जीवन का ही संकेत था ।

उनके पिता का नाम साह बलूजी सकलेवा और माता का नाम दोपाँबाई था । साह बलूजी और दोपाँबाई दोनों ही बड़े सज्जन, सरल, सीधी-सादी प्रकृति के थे । ऐसे माता-पिता की सन्तान सुशील और गुणवान हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं ।

संत भीखणजी के शरीर में अनेक लक्षण और शुभ चिन्ह थे । उनके दाँये पर में उर्द्ध रेखा का चिन्ह था । दाँये हाथमें मच्छ रेखा थी । दसों अंगुलियों पर चक्र थे और पेट पर नाभि के पास स्वस्तिका का चिन्ह था और वहीं अन्यत्र ध्वजा का आकार । ये शुभ चिन्ह उनको भावी महानता और होनहारता के सूचक थे । 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'—यह कहावत ठीक ही है ।

सत भीखणजी बचपनसे ही बड़े वैरागी थे । धर्मकी ओर उनकी विशेष रुचि रहती । उनको जो कुछ शिक्षा मिली वह गुरु के यहाँ ही । वे महाजनी

हिसाब में बड़े होशियार थे। उनकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी और उन्हें मौके की भण्डी उपजती थी।

### —यौवन—

बड़े होने पर घर के काम-काज की सार-सम्भाळ और देख-रेखमें वे बड़े कुशल निकले। पंच-पंचायती के कामों में वे अग्रसर रहते। गाँवमें वे बड़े बुद्धिमान समझे जाते थे और उनकी बड़ी पैठ थी। शुरू से ही वे बड़े तूरदर्शी थे।

संत भीखणजीके गृहस्थ-जीवनमें उपरोक्त गुणों पर प्रकाश डालने वाली अनेक घटनाएँ घटी होंगी परन्तु दुर्भाग्यवश आज हमें उनसे वंचित रह जाना पड़ता है। उनके गृहस्थ-जीवनकी बहुत थोड़ी घटनाओं की ही नोंध हमें मिलती है फिर भी वे उनकी असाधारण तीक्ष्ण बुद्धि और तूरदर्शिता का परिचय देती हैं। हम उनमें से दो-एक घटना यहाँ देते हैं।

एक दफे की बात है कि संत भीखणजी के गाँवमें किसीके घर से गहनों की चोरी हो गई। वहाँ एक अन्धा कुम्हार रहता था, जो बड़ा इम्भी था और कहा करता कि उसके झुँह देवता बोला करते हैं। गाँववालों का उस पर पूरा विश्वास जम चुका था। चोर का पता लगाने के लिये उसे बुलाया गया। संत भीखणजी गाँवमें सब से बुद्धिमान गिने जाते थे। वह कुम्हार उनके पास पहुँचा और कुछ देर इधर-उधर की बातें कर चोरी के प्रसंग पर आया और स्वामीजी से पूछने लगा— 'आप किस पर बहम (सूझ) धरते हैं?' तीक्ष्ण बुद्धि श्री भीखणजी को आगे की बात ताकते हुए देर न लगी। वे उसकी टंग विद्या को समझ गए। बोले : 'मेरा तो 'मजने' पर संदेह है।' यह बात दिनमें हुई। रातमें अन्धा कुम्हार चोरी वाले के घर पर पहुँचा। बहुत आदमी इकट्ठे हुए। कुम्हार कुछ देर इधर-उधर के घटमस करता रहा, फिर बोला, "ढाल दे रे ढाल दे गहनें ढाल दे।" परन्तु गहनें इस तरह कौन ढालता ? लोग चोर का नाम प्रगट

करने पर जोर देने लगे। इस पर कुम्हार ने तटक कर कहा—“मजना घोर है, उसीने गहने चुराए हैं।” घर का मालिक यह सुन कर हवा-ग्राह्य रह गया। वह बोला—“मजना क्या गहने चुरावेगा ! यह तो मेरे पकड़े का नाम है।” यह सुन कर सब लोग हस पड़े। मौका देखकर सत भीखणजी भी वहाँ आ पहुँचे और दिन में कुम्हार से जो बात चीत हुई थी उसको प्रगट करत हुए बोले : “तुम लोगों की अल्लु कहीं गई जो आंसवालों के द्वारा चुराए हुए गहनों का पता अंधे आदमी से लगवाना चाहते हो !” इस तरह भीखणजी ने अपने बुद्धि-बल से कुम्हार की पोल खोलकर समूचे गाँव को उसकी टगी से बचाया। स्वामीजी दंभ और ढोंग को कभी पसंद नहीं करत थे। उनकी प्रकृति बड़ी खरी थी। आगे जाकर उनकी इस प्रकृति ने उनके जीवन में बहुत घटा कार्य सिद्ध किया।

संत भीखणजी की अनोखी सूझ, असाधारण बुद्धिमत्ता, कार्य-कुशलता और तत्क्षण बुद्धि को प्रगट करने वाली गृहस्थ-जीवन की एक अन्य घटना इस प्रकार है :—

एक बार वे किसी गाँव से आ रहे थे। साथ में बोलाल ( रक्षक ) था। वह राजपूत था। उसको तमाखू का व्यसन था। रास्ते में तमाखू पूरी हो गई। वह बोला:—“क्या करूँ, तमाखू विना चला नहीं जाता।” संत भीखणजी ने सोचा—“अब यह छाटी ढालने ही वाला है।” यह सोच कर तुरंत ही वे बोले : “ठाकर साहब ! आगे चलिए, दिन थोड़ा है। मैं तमाखू खोजता हूँ।” इस तरह कह राजपूत को कुछ आगे बढ़ा दिया। परन्तु उससे विशेष चला नहीं गया। उसे जंभाइयाँ आने लगीं और वह रास्ते में ही बैठ गया। स्वामीजी पीछे से एक आरण छाना जला उसको महीन पीस और उसकी एक पुट्टिया बाँध राजपूत के पास आकर बोले:—“लीजिए यह तमाखू मिली तो है, परन्तु है कुछ ऐसी वैसी सी ही।” राजपूत ने चिमटी भर सूँघ कर कहा “अच्छी ही है। काम

चल जायगा।" ठाकुर होशियार हो गया और जल्दी-जल्दी चलने लगा। दोनों रास्ता तय कर दिन रहते-रहते घर पहुँचे। स्वामीजी की बुद्धि काम न करती और वे चतुराई से काम न लेते तो शायद दोनों को रास्ते में ही कष्ट से रात काटनी पड़ती।

संत भीखणजीको सामाजिक कुरीतियों से बड़ी चिढ़ थी। एक धार वे सधाराह गए। भोजनके लिए गए तो स्त्रियाँ गाकियाँ गाये छाहीं "ओ तो कालो घनो ने काबरोजी छाल।" भीखणजीने भोजन करना बंद कर दिया। उनका साखा खंगड़ा था। इस बातका सहारा लेकर वे विनोद करते हुए बोले "आप भवे खोड़ेको तो अच्छा बतलाते हैं और अच्छे को भुरा। क्या यह ठीक है? फिर 'यह मुझे पसन्द नहीं है'—ऐसा कह अपना विरोध दिखाते हुए बिना भोजन किए ही उठ चने। उनके इस तीव्र विरोध का फल जो होने का था वही हुआ।

### —विवाह—

भीखणजी का विवाह कम हुआ वह मात्रम नहीं परन्तु पना चकता है कि वह छोटी उमरमें ही कर दिया गया था। उनके एक पुत्री हुई थी। स्वामी जी स्वभाव से ही वैरागी थे। इस प्रकार वाक्यावल्या में ही वैवाहिक जीवन में बाह्य दिग्गजाने पर भी उनकी आन्तरिक वैराग्य भावना में एक नहीं आया। भोग और विजासर्म उन्हें चैन न मिलता और संसार से वे उद्विग्न और खिन्न चित्त रहते थे। उनका गृहस्थ-जीवन बड़ा संयत था। उनकी पत्नी भी उन्हीं की तरह धार्मिक प्रकृति की और बड़ी दिनयशील थी। ऐसी युगल जोड़ी कम मिलती है।

### —वैराग्य और दीक्षा—

संत भीखणजी के माता पिता गच्छ्यासी सम्प्रदायके अनुयायी थे। अतः पहले-पहल भीखणजी का इसी सम्प्रदायके साधुओंके पास आना-जाना शुरू

हुआ। बादमें इनके यहाँ आना-जाना छोड़ वे पोतियाबध साधुओंके अनुयायी हुए। इनके प्रति भी उनकी भक्ति विशेष समय तक टिक न सकी और वे वाईस सम्प्रदाय की एक शाखा विशेष के आचार्य श्री रुघनाथजी की सम्प्रदाय के अनुयायी हुए।

इस तरह भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके ससर्गमें आने से चाहे और कोई लाभ हुआ हो या न हुआ हो परन्तु इतना अवश्य हुआ कि सांसारिक जीवनके प्रति भीखणजी की उदासीनता दिन-पर-दिन बढ़ती गई और वह यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने दीक्षा लेनेका विचार ठान लिया। उनके साथ उनकी पत्नीने भी दीक्षा लेनेका विचार कर लिया, और दोनों ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। पूर्ण युवा अवस्थामें ब्रह्मचर्य पालन का नियम ले दोनोंने उठते हुए यौवन की उद्दाम तरंगों पर वैराग्य और संयम की गहरी मुहर लगा दी। प्राप्त भोगों को ठुकरा कर दोनोंने सच्चे त्यागी होनेका परिचय दिया। कहा भी है—

वत्थगन्धमलंकारं इत्थियो सयणाणि य ।

अच्छन्दा जे न भुंजन्ति न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥

जे य कन्ते पिए भोए लद्धे वि पिट्टिकुव्वइ ।

साहीणे चयई भोए से हु चाइ त्ति वुच्चई ॥

अर्थात्—जो वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और शयन का परवशतासे सेवन नहीं करता वह कोई त्यागी नहीं है; पर जो कान्त और प्रिय भोगों को भी पीठ दिखा देता है और स्वाधीन भोगोंको भी छिटका देता है वही वास्तवमें त्यागी है।

ब्रह्मचर्यके नियमके साथ-साथ एक अन्य नियम भी दोनोंने ग्रहण किया। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक दीक्षा की इच्छा पूरी न होगी तब तक दोनों एकान्तर-एक दिनके बाद एक दिन-उपवास किया करेंगे। इस प्रतिज्ञा

के कुछ भर्त्से बाद ही श्रीमद् भीखणजी की पत्नी का स्वर्गवास हो गया। जब वे अकेले ही रह गए। इस वियोगसे उनकी वैराग्य-भावना को और भी उंचे जना मिली। “काल का क्या मरोसा है ? जैसे कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिंदु को गिरते देर नहीं लगती वैसे हो यह जीवन कब विलीन हो जाय क्या ठिकाना है ? शुभ काममें एक समय का भी प्रमाद करना भयंकर भूल है।” भीखणजी रात-दिन इन्हीं विचारों में लीन रहने लगे। लोगोंने उनको फिर विवाह करने के लिए समझाया परन्तु उन्होंने किसी की न सुनी। अच्छे सम्बन्ध मिलते हुए भी उन्होंने सबको दूकरा दिया और यावज्जीवन श्रद्धार्च्य पालन की प्रतिज्ञा कर ली। संत भीखणजी का वैराग्य कितना उत्कट था, यह उपरोक्त घटना से साफ-साफ प्रगट होता है। दीक्षा लेनेके पूर्व उन्होंने अपनी योग्यता को किस प्रकार कसौटी पर कमा था, इसका अनुमान एक अन्य घटना से भी होगा।

जब भीखणजी का दीक्षा लेने का विचार हुआ तो उन्होंने अपनी अजमाइश के लिए कैरका भीसाया हुआ (कैर उबाल कर जो जल निकाल दिया जाता है) जल लिया। उसे एक ताम्बेके छोटेमें डाल कर उसमें राख मिला उसे बंदेल (हडिडियोंकी जेड) में रख दिया। बहुत देर बाद जब यह जल नितर गया—स्वच्छ हो गया तो उसे पिया। इससे उनको बड़ा कष्ट हुआ। साधु बनने पर पके जल पीनेके नियम को वे निमा सकेंगे था नहीं इसी आँखके लिए उन्होंने निस्वादसे-निस्वाद पके जल को लेकर अपनी अजमाइश की। दीक्षा लेनेके कोई ४१ वष बाद संत भीखणजीने हमराजजी स्वामीको अपने जीवन की इस घटनाका जिक्र किया और बोले : “भाधु होनेके बाद आज तक वैसा निरस पानी पीनेका काम नहीं पड़ा।”

इस तरह अपनेका अनेक तरहसे ता-रपास कर वे भीतर ही भीतर मुनि-जीवनके लिए सम्पूर्ण रूपसे तैयार हो गये और फिर दीक्षा लेनेका विचार

माता दीपांबाई से प्रगट किया और दीक्षाके लिए अनुमति मांगी ।

कहा जाता है कि जब संत भीखणजी उदरमें थे तब माता दीपांबाई को स्वप्नमें एक केशरी सिंह का दृश्य दिखाई दिया था । इससे उनकी धारणा थी कि उनका पुत्र महा यशस्वी होगा और वह उस शुभ मुहुर्त की धीर चित्तसे प्रतीक्षा कर रही थीं । अपने पुत्रके मुखसे दीक्षा की बात सुनकर दीपांबाई को बड़ी निराशा हुई । साह बलूजीका देहान्त हो चुका था । भीखणजी अपनी माता के एकलौते पुत्र और एक मात्र सहारे थे । इस परिस्थिति में उनका दीक्षा लेनेका विचार माताको कैसे सह्य होता ? उन्होंने दीक्षा के लिए अनुमति देनेसे इन्कार कर दिया ।

भीखणजीके एक भूआ थी । वह उनसे बोली : “यदि तुम दीक्षा लोगे तो मैं कटारी खाकर मर जाऊँगी ।” इन सब कठिनाइयोंके उपस्थित होने पर भी भीखणजी अपने विचारसे पीछे नहीं हटे । संसारसे उनका चित्त खिन्न हो चुका था और साधु-जीवनके प्रति उनकी लौ लग चुकी थी । अपनी भूआ से उन्होंने कहा : “कटारी क्या कोई पूरी है कि कोई उसे पेटमें खा डाले ? ऐसी व्यर्थ बातोंसे मुझे अटकाने की चेष्टा न करें ।”

भीखणजी आचार्य रुघनाथजीके पास दीक्षा लेना चाहते थे । जब उनको यह सब बातें मालूम हुईं तो वे खुद दीपांबाई से आज्ञा दिलवाने की चेष्टा करने लगे । दीपांबाई सिद्ध-स्वप्नकी चर्चा करती हुई बोलीं : “भीखण के भागमें साधु होना नहीं, कोई वैभवशाली पुरुष होना बदा है । मैं अपने होनहार पुत्रको आपको कैसे सौंप सकती हूँ ?” इस प्रकार हठ करने पर आचार्य रुघनाथजीने दीपांबाईसे कहा : “तुम्हारा यह मिथ्या नहीं जायगा । प्रब्रज्या लेकर भीखण सिंह कीतरह गूजेंगा ।” आचार्य की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य निकली । माता की धारणाके अनुसार भीखणजी कोई ऐश्वर्य्य शाली मुकुट धारी राजा भले ही न हुए हों परन्तु वे चारित्रात्मा-

अँके सम्राट त्यागियों के मुकुटमणी तथा तत्त्वज्ञान और अखण्ड आत्म-ज्योतिके धारक महापुरुष अवश्य निकले ।

दीर्पाबाई ने आखिर दीक्षाकी अनुमति दे दी । अपने वैधव्य जीवन के एक मात्र सहारे और हुकारे पुत्रको इस प्रकार दीक्षा की अनुमति देकर दीर्पाबाईने जिन साहस और धमप्रेम की भावनाका परिचय दिया वह एक महान् माताके अनुरूप ही था । उनकी यह न्यौछावर हुनिया को एक कितनी बड़ी दन थी इतका आभास पाठकों को आगे जाकर होगा ।

दीक्षा लेते समय संत भीखणजीने करीब १०००) रुपये अपनी माताके पास छोड़े ।

संत भीखणजीकी दीक्षा बगडी दाहर में हुई । आचार्य रुक्नाथजीने खुद अपन हाथमे उन्हे दीक्षा दी । उस समय संत भीखणजी की अवस्था २५ वर्ष की थी । इस तरह २५ वर्ष का वह तेजस्वी युवक अद्भुत वैराग्य भावनाओंसे उच्छ्वासित हो त्याग मार्ग का बीड़ा उठा निश्चेयशके मार्ग पर अग्रसर हुआ ।





## दीक्षा के बाद ८ वर्ष

### — विचक्षण शिष्य —

संत भीखणजी की दीक्षा मन्वत् १८०८ की सालमें हुई । दीक्षाके बाद के ८ वर्ष को हम उनके जीवन का स्वाध्याय काल कहेंगे । इस दीर्घ काल को उन्होंने जैन शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन और चिंतन में बिताया और प्रचुर ज्ञान-धन सचय किया । उनकी बुद्धि अत्यन्त तीव्र थी । वे तत्त्व को बहुत ही शीघ्र ग्रहण कर सकते । थोड़े ही दिनों में उन्होंने जैन दर्शन और धर्म का तलस्पर्शी और गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया । तात्त्विक चर्चा में उनकी अबाध गति हो गई । हंस में जैसे नीर-क्षीर का विवेक होता है, वैसे ही तत्त्व को अतत्त्व से पृथक् करने में उनकी बुद्धि बड़ी सतौल थी । गहरे अध्ययन में उन्हें आभास होने लगा जैसे शुद्ध दर्शन और धर्म-क्रिया दोनों ही का साधु संघ में अभाव हो । ऐसा विवेक हो जाने पर भी आत्मबल इतना दृढ नहीं हो पाया था कि वे खुलम खुल्ला इस बातको प्रगट कर सकते । हालां कि बीच-बीच में वे आचार्य रुघनाथजी से तत्त्व ज्ञान, धर्म और आचार-विचार त्रिपयक ऐसे गूढ़ प्रश्न अवश्य पूछ बैठते जो उनके गभीर पाण्डित्य का ही परिचय नहीं देते परन्तु साधु समाज के आचार-विचार पर भी एक टिप्पणीसे होते और एक धीमी भूचाल की सी लहर छोड़ जाते । आचार्य रुघनाथजी ऐसे प्रश्नों के उपस्थित होने पर या तो चुप रहते या टालमटोल जवाब देकर परिस्थिति को बचा लेते । संत भीखणजी उनके बड़े प्रिय शिष्य थे और उनकी बुद्धि पर उन्हें नाज था । संत भीखणजी के तीव्र वैराग्य भाव के कारण आचार्य उन्हें आन्तरिक स्नेह से देखते और यह बात प्रगट-सी थी कि भावी आचार्य वे ही होंगे ।

भँके सम्राट, त्यागियों के मुकुटमणी तथा तत्त्वज्ञान और असदृश आत्म-ज्योतिके धारक महापुरुष अवश्य निकले ।

दीर्पाबाई ने आखिर दीक्षाकी अनुमति दे दी । अपने वैधव्य जीवन के एक मात्र सहारे और हुलारे पुत्रको इस प्रकार दीक्षा की अनुमति देकर दीर्पाबाईने जिस साहस और धमधेम की भावनाका परिचय दिया वह एक महान् माताके अनुरूप ही था । उनकी यह न्यौछावर दुनिया को एक कितनी बड़ी नेन थी इसका आभास पाठकों को आगे जाकर होगा ।

दीक्षा लेते समय संत भीखणजीने करीब १०००) रुपये अपनी माताके पास छोड़े ।

संत भीखणजीकी दीक्षा बगधी शहर में हुई । आचार्य रघुनाथजीन खुद अपने हाथसे उन्हें दीक्षा दी । उस समय संत भीखणजी की अवस्था २५ वर्ष की थी । इस तरह २५ वर्ष का वह तेजस्वी युवक अद्भुत वैराग्य भावनाओंसे उच्छवासित हो त्याग मार्ग का बीड़ा उठा निश्चयशक्के मार्ग पर अग्रसर हुआ ।



## दीक्षा के बाद ८ वर्ष

### — विचक्षण शिष्य —

संत भीखणजी की दीक्षा मन्वत् १८०८ की मालमें हुई । दीक्षाके बाद के ८ वर्ष को हम उनके जीवन का स्वाध्याय काल कहेंगे । इस दीर्घ काल को उन्होंने जैन शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन और चिंतन में बिताया और प्रचुर ज्ञान-धन संचय किया । उनकी बुद्धि अत्यन्त तीव्र थी । वे तत्त्व को बहुत ही शीघ्र ग्रहण कर सकते । थोड़े ही दिनों में उन्होंने जैन दर्शन और धर्म का तलस्पर्शी और गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया । तात्त्विक चर्चा में उनकी अबाध गति हो गई । हँस में जैसे नीर-क्षीर का विवक होता है, वैसे ही तत्त्व को अतत्त्व से पृथक् करने में उनकी बुद्धि बड़ी सतौल थी । गहरे अध्ययन में उन्हें आभास होने लगा जैसे शुद्ध दर्शन और धर्म-क्रिया दोनों ही का साधु संघ में अभाव हो । ऐसा विवक हो जाने पर भी आत्मबल इतना दृढ़ नहीं हो पाया था कि वे खुलम खुल्ला इस बातको प्रगट कर सकते । हालाँकि बीच-बीच में वे आचार्य रुघनाथजी से तत्त्व ज्ञान, धर्म और आचार-विचार विषयक ऐसे गूढ़ प्रश्न अवश्य पूछ बैठते जो उनके गंभीर पाण्डित्य का ही परिचय नहीं देते परन्तु साधु समाज के आचार-विचार पर भी एक टिप्पणीसे होते और एक धीमी भूचाल की सी लहर छोड़ जाते । आचार्य रुघनाथजी ऐसे प्रश्नों के उपस्थित होने पर या तो चुप रहते या टालमटोल जवाब देकर परिस्थिति को बचा लेते । सत भीखणजी उनके बड़े प्रिय शिष्य थे और उनकी बुद्धि पर उन्हें नाज था । सत भीखणजी के तीव्र वैराग्य भाव के कारण आचार्य उन्हें आन्तरिक स्नेह में देखते और यह बात प्रगट-सी थी कि भावी आचार्य वे ही होंगे ।

गुरु शिष्य का यह स्नेह और विनय भाव ७ वर्षों तक एकधर चलता रहा। न शिष्य की जिज्ञासु वृत्ति ने उसमें अविश्वास पैदा किया और न आचार्य की शिथिलता वृत्ति ने उसमें खेद-खिन्नता।

### —राजनगर का चौमासा—

परन्तु इसके बाद ही एक ऐसी घटना घटी, जिसने सत भीखणजी के जीवन में एक महान् परिवर्तन कर दिया। सन्वत् १८१५ की बात है। मेवाड़में राजनगर नामक एक शहर है। उस समय भी वहाँ एक बहुत बड़ी वस्ती थी। वहाँ आचार्य रुघनाथजीके सम्प्रदायके अनेक श्रावक ( अनुयायी) रहते थे। इन श्रावकोंमें अधिकार महाजन थे। इनमें कई श्रावक अच्छे विद्वान और भागम रहस्यको समझने वाले थे। वे साधुओंके आचार-विचार की शिथिलतासे खेद खिन्न थे और बात यहाँ तक बढ़ी कि इन श्रावकोंने आचार्य रुघनाथजी और उनके सम्प्रदायके साधुओंको बन्दना नमस्कार करना तक छोड़ दिया। उस समय आचार्य रुघनाथजी मारवाड़में थे। उनके कानोंमें भी यह बात पड़ी और ये चिन्तित हो गए। उन श्रावकोंको समझा कर रास्ते पर डाला जहरी था। परन्तु यह काम जिस तिस से बनने का नहीं था। उन्होंने शिष्य भीखणजी को ही इसके उपयुक्त समझ उन्हें चुना और बोले—‘जाओ! तुम बुद्धिमान् हो। राजनगर के श्रावकों की शकाओं को बुर करो। देखो! जिससे वे फिर वर्पना करने लगे।’

संत भीखणजी ने गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर राजनगर के लिए विहार किया। श्री टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारीमाळजी ये अन्य चार साधु उनके साथ थे। संवत् १८१५ का चौमासा राजनगर में ही किया। यह चौमासा संत भीखणजी के भावी जीवन पर बड़ा ही गहरा प्रभाव डालन वाला हुआ। श्रीमद् जगन्नाथजी ने इस चौमासे को ‘चौमासा गुणकार’ कह कर सम्बोधित किया है।

## —एक आत्म-वञ्चना—

सत भीखणजी के पधारने पर श्रावक उनके पास आए और अपने अभियोग का पुलिन्दा उनके सामने खोलते हुए बोले—“आपलोग तो जान-बूझ कर दोषोंका सेवन करने लगे हैं। खुले आम स्थापित स्थानों में रहते हैं और इस तरह आधाकर्मी दोष का सेवन करते हैं। निरोग अवस्था में भी नित्य एक ही घर की गोचरी करते हैं। विना आज्ञा जिस-तिस को मुड लेते हैं। वस्त्र, पात्र, उपधि विषयक सारी मर्यादाओं को तिलाञ्जली दे दी है। न आप में शुद्ध श्रद्धा है, न शुद्ध आचार फिर हम वन्दना किस तरह कर सकते हैं ?”

एक ओर श्रावकों की ये सच्ची बातें थी और दूसरी ओर आचार्य की टेक। एक ओर मिथ्या आत्म-सन्मान का सवाल था और दूसरी ओर सच्चाई के आगे सिर झुकाना। सत्य को सत्य साबित होने देना या मिथ्यापर सत्य का आवरण डाल देना—भीखणजी के हृदय में इन द्वन्द्वोंने काफी संघर्ष पैदा किया होगा। उनकी अवस्था बड़ी विचित्र हुई होगी ! परन्तु सत्य-प्रेम का भरना अभीतक अन्तर वेगसे कहाँ फूट पडा था कि वे न्याय मार्गको ग्रहण कर सकते। उन्होंने ने बुद्धि-बलसे श्रावकों को समझाने की चेष्टा की और अनेक तरह के उपायोंका सहारा ले उन्हें पैरे छू कर वन्दना करने को राजी किया। श्रावकोंने वन्दना करना तो शुरू किया परन्तु वास्तवमें उनके हृदय की शकाएँ दूर नहीं हो सकीं। उन्होंने भीखणजीसे कहा भी—“आप वैरागी हैं इसलिये हम आपका विश्वास कर वन्दना करते हैं बाकी हमारी शंकाएँ निर्मूल नहीं हो सकी हैं।”

आचार्यकी बात रखनेके लिये भीखणजीने कुछ चालाकीसे काम लिया और मिथ्या पक्षका समर्थन कर झूठको आश्रय दिया। इस प्रकार वे आत्म-वञ्चना का जहर पी गए। गुरु और साधु पदकी मर्यादाकी रक्षाके लिए साधु होते हुए भी उन्होंने श्रावकोंके सत्य विचारोंको गलत प्रमाणित किया और आगम विरुद्ध आचार का मगहन किया।

## —अनुत्ताप और प्रतिज्ञा—

इस घटनाके बाद ही सन्त भीखणजी को तीव्र ज्वरका प्रकोप हुआ। शीतसे उनका शरीर भर-भर कांपने लगा। दाह-ज्वर से अत्यन्त थका उत्पन्न हुई और उसके साथ ही उनके विचारोंमें तुमुल संघर्ष हुआ। विचार धारामें एक अपूर्व क्रान्ति—गहरी हल-चल भय गई। आत्म-वञ्चनाके पापसे उनकी आत्मा कांपने लगी। उन्हें तीव्र पश्चात्ताप और आत्म-गलानिका बोध होने लगा। उन्होंने विचारा—“मैंने कैसा भय किया! सचोंको भूठ ठहराया! यदि इस समय ही मेरी मृत्यु हो जाय तो मुझे कितनी नीच गतिमें जाना पड़े! मैंने जिन भगवानक वचनोंको विपरीत ठहरा कितना बड़ा पाप किया। दुर्गतिमें आते समय मर ये गुण किस तरह धरणभूत होंगे? इस पापसे कौन मेरा प्राण कर सकेगा?” उनकी आत्मा इन पवित्र भावनाओं को माने लगी और आत्म वञ्चनाके विषको बंदोर-बंदोर कर बाहर फेंकने लगी। इस तरह धम-ज्यानको ध्याते-ध्याते उन्होंने प्रतिज्ञा की—“यदि मैं इस बीमारी से मुक्त हुआ तो अवश्य ही निष्पक्ष हो सच्चे मार्गको अपनाऊँगा। जिनेश्वर देव मापित सच्चे सिद्धांतोंको अङ्गीकार कर उनके अनुसार जीवन चलाने में किसीकी परवाह नहीं करूँगा।” इस प्रकार उनके हृदय-पटल खुल गए। एक दिव्य आन्तरिक प्रकाश से उनका अन्तर-लोक जगमगा उठा और यह प्रकाश उनके जीवन-पथको अन्तिम घड़ियों तक आलोकित करता रहा। तीव्र सुखारके समय उन्होंने कितनी पवित्र प्रतिज्ञा की! आन्तरिक बैरागीको परभवका कितना भय होता है—यह भीखणजीके जीवन की इस घन्नासे कितना स्पष्ट प्रगट होजाता है।

## —मौन स्वाध्याय—

विपत्तिमें नहीं पामर प्राणी हाय-तोबा कर और बदनामी समभावन सहन न कर और भी अधिक भयका सञ्चय करता है, वहाँ सच्चा मुमुक्षु मुख्य अपनी

आत्मांक उद्धारमें प्रवृत्त होता है। ज्यों-ज्यों शारीरिक वेदनाका वेग घटता है, त्यों-त्यों उसके हृदयकी वृत्तियोंकी अन्तर्मुखता भी बढ़ती जाती है और उसकी आत्मा अधिकाधिक सत्यके दर्शनके लिये दौड़ने लगती है। सांसारिक प्राणीकी दृष्टि जहाँ मिथ्या आत्म-सन्मान, वाह्य-छत्र और प्रतिष्ठाकी रोज करती है वहाँ मुमुक्षुकी दृष्टि अन्तरकी ओर ताकती है और अपने किये हुए दुःख कायाँवा पश्चाताप कर आत्म-शुद्धि करती है। मुमुक्षु कभी मानापमानकी धारामें बह भी जाता है तो भी उसे तैर कर बाहर आनेमें देर नहीं लगती। सन्त भीखणजीके विषयमें भी ऐसा ही हुआ। वे आन्तरिक मुमुक्षु थे और इसीलिए अपनी भूलका इस तरह प्रमार्जन कर सके। सन्त भीखणजीको अब सत्यक दर्शन हो चुके थे फिर भी वे अधीर न हुए। आत्मार्थी देख-देख कर पैर धरता है। वह अधीरता को महान् पाप समझता है। वह अपने विचारोंको एक बार दो बार नहीं परन्तु बार-बार सत्य की कसौटी पर कसता है और जब जरा भी सन्देह नहीं रह जाता तब जो अनुभवमें आता है उसे साफ-साफ प्रगट करता है। स्वामीजीने भी अन्तिम निर्णयके लिए इसी मार्गका अवलम्बन किया। उन्होंने धीर चित्त से दो बार सूत्रों का सूक्ष्म अध्ययन किया। गुरु की पक्ष ले भूठ को सत्य प्रमाणित करना जहाँ महान् दुःख का कारण होता वहाँ गुरुके प्रति भी अधीरज वश कोई अन्याय कर बैठना दुर्गति का कारण था। इस दुधारी तलवार से बचने के लिए मौन स्वाध्याय और आगम दोहन ही एक मात्र उपाय था। इस दोहन से उन्हें इस बात का पूरा-पूरा भरोसा हो गया कि श्रावकों का पक्ष सत्य है और साधु लोग वास्तवमें ही जिन-आज्ञा का तिरोभाव कर रहे हैं। अब अपनी भूल को सुधारना धर्मी उन्होंने जरूरी समझा और निर्भक्ता से अपना निर्णय देते हुए बोले—

“श्रावको ! तुमलोग सबे हो। हमलोग भूठे हैं। गुस्ते मिलकर हमलोग शुद्ध मार्ग को ग्रहण करेंगे।” संत भीखणजी की इस खरी बातको छनकर श्रावक

बड़े ही इर्षित हुए और उनके मनमें संघके उद्धार की जो महत्वाकांक्षा थी वह उन्हें शीघ्र ही सफल होती प्रतीत हुई। आधक बोले—“इमें आपसे ऐसा ही भरोसा था।”

### —वापिस आचार्यके पास—

श्रीमद् भीखणजीने जिनोक्त मार्ग अंगीकार करने की प्रतिज्ञा की थी, इससे पाठक यह न समझें कि उन्होंने आचार्य कृष्णाथजी के शिष्य न रहने की ही ठान ली थी और वे एक अलग आचार्यके रूपमें प्रगट होना चाहते थे। जहाँ सच्चा मार्ग हो वहाँ शुद्ध रूपमें या शिष्य रूपमें रहना उनके लिये समान था। आत्म-कल्याण का प्रयत्न ही उनके सामने प्रमुख था। इसलिये शिष्य रहकर भी वे उसे साध सकें तो उन्हें कोई आपत्ति न थी। अतः आचार्य कृष्णाथजी के पक्ष को गलत समझ लेने पर भी उन्होंने उसी समय उनसे अपना सम्बन्ध नहीं टोड़ दिया। बल्कि उल्टा उन्होंने यह विचार किया कि आचार्य महाराज से मिलकर वे शास्त्रीय आलोचना करेंगे और सारे सम्प्रदाय को हर उपाय से शुद्ध मार्ग पर लानेका प्रयत्न करेंगे। उनके न मानने पर उनका क्या कर्तव्य होगा, इसका निश्चय वे कर चुके थे परन्तु इस निश्चय को वे तभी काममें लाना चाहते थे जब कि आचार्य महाराज को समझने का पूरा अवकाश दे देने पर भी वे सन्मार्ग पर न आवें। इस समय श्रीमद् भीखणजी ने जिल विनय और धीरज का परिचय दिया वह अवश्य ही उनकी शुभुक्षुता, आन्तरिक वैराग्य और धर्म भावना का द्योतक था।

श्रीमद् भीखणजी ने अपने साथ जो अन्य साधु थे उनको भी सारी बातें अच्छी तरह समझायीं। वास्तविक साधु आचार और विचार की बातें उनको बतलाईं। भीखणजी के विचारों को सत्य समझ सबने उनका अनुमोद किया। चातुर्मास समाप्त होने पर सत भीखणजी ने अन्य साधुओं के साथ राजनगर से विहार किया। वे राजनगर से विहार कर सोजत की और



अप्रसर हुए। रात में छोटे-छोटे गाँव पढ़ने थे। हमलिये साधुओं के दो घर कर दिये। एक इलमें साधु वीरमाणजी थे। श्रीमद् भीष्मणजी ने वीरमाणजी को ममका दिया था कि यदि वे रघुनाथजी के पास पहले पहुँचें तो वहाँ इस विषय की कोई चर्चा न करें। क्योंकि यदि पहले ही बात उनकर पत्र-पात हो गया तो समझानेमें विरोध कठिनाई होगी। उन्होंने कहा—“मैं गुरु पहुँच कर सब बातें विनय पूर्वक उनके सामने रखूँगा और उन्हें सत्य मार्ग पर लाने की चेष्टा करूँगा।”

घटना-चक्र से साधु वीरमाणजी ही पहिले गोजत पहुँचें। उम समय आचार्य रघुनाथजी वहीं थे। श्री वीरमाणजी ने वन्दना की। आचार्य रघुनाथजी ने पूछा—“श्रावकों की आन्तरियाँ दूर हुई या नहीं?” साधु वीरमाणजी ने उत्तर दिया—“श्रावकोंक कोई शंका होती तब न दूर होती? उन्होंने तो सिद्धान्तों का सच्चा भेद पा लिया है। हमलोग आधाकर्मी आहार करने हैं। एक ही जगह से रोज-रोज गोचरी करते हैं। वस्त्र पात्रादि उपादानों के निश्चित परिमाण का उल्लंघन करते हैं। अभिभावकों की आज्ञा बिना ही दीक्षा दे डालते हैं, हर किसी को प्रव्रजित कर लेते हैं। हम तरह अनेक दोषों का हमलोग सेवन करते हैं और केवल सेवन ही नहीं, परन्तु उनको उचित भी उद्धराते हैं। श्रावक सत्य ही कहते हैं, उनकी शंकाएँ मिथ्या नहीं हैं।” यह सुनकर आचार्य रघुनाथजी स्तम्भित हो गये। उन्होंने कहा—“यह क्या कहते हो?” वीरमाणजी ने कहा—“मैं सत्य ही कहता हूँ। मैंने जो कहा वह तो नमूना है। पूरी बात तो भीष्मणजी के आनेसे ही मालूम होगी।” हम तरह धीरज न होने से वीरमाणजी ने गारी बात कह डाली। श्रीमद् भीष्मणजी इस घटना के बाद पहुँचें। आते ही उन्होंने आचार्य महाराज को वन्दना-नमस्कार किया। परन्तु उन्होंने स्वयं न जोड़ी और न वन्दना-नमस्कार स्वीकार किया। यह देख कर श्रीमद् भीष्मणजी समझ गये कि हो न हो

वीरमाणजी ने पहले ही सारी बात कह दी है। श्रीमद् भीखणजी ने इस उदासीनता का कारण पूछा, सब आचार्य महाराज ने उत्तर दिया—“तुम्हारे मनमें शंकाएँ पड़ गई हैं। तुम्हारा और हमारा दिल नहीं मिल सकता। आज से हमारा और तुम्हारा आहार भी एक साथ नहीं होगा।” श्रीमद् भीखणजी ने मन में विचार किया—“हममें और इनमें दोनों में ही समकित नहीं है। परन्तु अभी बहुत करना निरर्थक है। शायद वे सोचते हों कि मैं हर हालत में इनसे अलग होना चाहता हूँ और इन्हें कुछ नहीं मानना चाहता। इसलिये उचित है कि मैं उनकी इस धारणा को दूर कर उनके हृदय में विश्वास उत्पन्न करूँ कि मेरे विचार ऐसे नहीं हैं। मुझे शिष्य रूप में रहना अभीष्ट है, वरन् कि सन्मार्ग के अनुसरण में कोई रुकावट न हो। यह सोच कर वे बोले—‘यदि व्यर्थ ही मेरे मन में शंकाएँ पड़ गई हों तो उन्हें दूर कीजिए। मुझे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध कर भीतर कीजिये।’ इस तरह उन्होंने आचार्य महाराज की व्यर्थ आशंका को दूर कर सहभोजी बन वात्सलाय करने का सुअवसर प्राप्त किया।

इसके बाद सुअवसर देखकर श्रीमद् भीखणजी ने आचार्य महाराजके साथ विनम्रता पूर्वक आलोचना शुरू की। उनका कहना था—“हमलोगोंने आत्म-कल्याण के लिये ही घरबार छोड़ा है अतः टेक छोड़कर सच्चे मार्ग को ग्रहण करना चाहिये। हमें शास्त्रीय धर्मों को प्रमाण मानकर मिथ्या मान्यतायें न रखनी चाहिये। पूजा-प्रशंसा तो कई बार मिल चुकी है, पर सच्चा मार्ग मिलना बहुत ही कठिन है। अतः सच्चे मार्गकी तुलनामें इन बातों को नगण्य समझना चाहिये। शुद्ध जैन मार्गको अगीकार करने पर आप ही हमारे पूर्य रहेंगे। आप पुण्य-पाप का मेल मानते हैं। एक ही काममें पुण्य और पाप दोनों समझते हैं—यह ठीक नहीं है। अशुभ योगसे पापका बन्ध होता है और योगसे पुण्य का संचार होता है परन्तु ऐसा कौन सा योग है जिससे

एक ही साथ पुण्य और पाप दोनों का संचार होता हो ? अतः आप अपनी पकड़ को छोड़कर सच्ची बात को ग्रहण कीजिये । सूत्रों के वचनों पर श्रद्धा रखें । जिन-आज्ञा के बाहर कोई धर्म नहीं है । आभ्यन्तर आँखें खोल कर और जिन-प्रवचनों पर ध्यान देकर पकड़ी हुई टैक को छोड़ देना चाहिये । न शुद्ध श्रद्धा ही हमारे हाथ आई है, न शुद्ध आचार । हम लोगों ने आत्मा के निस्तार के लिये ही घर छोड़ा है । इसलिये आपको बार-बार निवेदन करता हूँ और अन्य कोई भावना नहीं है । सब को एक दिन परभव में जाना है । श्रद्धा का प्राप्त करना दुर्लभ है । जिनधर्म बिना आत्मा का कल्याण नहीं । अतः पक्षपात को छोड़ दें ; सूत्रों की बात मानने पर आपही हमारे नाथ हैं ।” परन्तु आचार्य रघनाथजी पर श्रीमद् भीखणजी की इन बातों का कोई असर नहीं पड़ा । उल्टे वे अधिक क्रुद्ध हो उठे । संत भीखणजी ने सोचा अब उतावल करने से काम नहीं होगा । जिद्द को दूर करने के लिये धीरज से काम लेना होगा । मौका देख कर फिर उन्होंने प्रार्थना की कि इस वार चातुर्मास एक साथ किया जाय जिससे कि सच्च-भूठका निर्णय किया जा सके । परन्तु आचार्य महाराज ऐसा करने के लिये राजी नहीं हुए ।

इसके बाद श्रीमद् भीखणजी बगड़ी में फिर आचार्य महाराज से मिले और फिर चर्चा कर सच्चे मार्ग पर आने का अवरोध किया । परन्तु उन्होंने एक न सुनी । अब भीखणजी को साफ-साफ मालूम होगया कि आचार्य समझाये नहीं समझ सकते । अतः उन्होंने सोचा कि अब मुझे अपनी ही चिन्ता करनी चाहिये । यह सोचकर स्वामीजी ने आचार्य महाराज से सम्बन्ध तोड़ दिया ।



## प्रभु के पथ पर

—सम्बन्ध विच्छेद के बाद—

इस प्रकार आचार्य रुघनाथजीसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर श्रीमद् भीखणजीने अपने लिये विपत्तियोंका पहाड़ खड़ा कर लिया । उस समय श्री रुघनाथजी एक प्रतिष्ठित आचार्य समझे जाते थे । उनके अनुयायी भी बहुत थे । श्रीमद् भीखणजीके अलग होते ही आचार्य रुघनाथजीने उनका घोर विरोध करना शुरू कर दिया । उन्हें भयभीत कर फिर से स्थानकमें लौट आनेको बाध्य करनेके लिए शहरमें सेवकके द्वारा द्विद्वार पिठवा दिया गया—“कोई भी भीखणजीको उतरनेके लिये स्थान न दे । जो जान-सुन कर स्थान देगा, उसको सब की आण-डुहाई है” । श्रीमद् भीखणजी इस विरोधसे तनिकभी विचलित न हुए । सिद्धकी तरह अपने निश्चय पर ठटे रहे । विचार किया—“यदि इस विपत्तिसे बचका कर फिर स्थानकमें चला गया तो वापिस पुराने जालमें फँस जाऊँगा और पुन उससे निकलना सरल न होगा ।” यह सोचकर भविष्य की कठिनाइयोंकी तनिक भी चिन्ता न करते हुए उन्होंने बगड़ी शहरसे विहार कर दिया । विहारकर जब वे बगड़ी शहरके बहिरद्वारके समीप आये तो बहुत जोरसे आधी चलने लगी । जोरकी हवा बहनेके समय विहार करना उचित न समझ वे पासकी जैत रेहजी की छत्रियोंमें ठहरे ।

जब आचार्य रुघनाथजीको यह मालूम हुआ तो वे अनेक लोगोंको साथ ले छत्रियों में आये और श्रीमद् भीखणजीसे जोर-शोरसे धर्म-वर्चा शुरू की । वे बोले—‘यह पंचम आरा है । इसमें इतनी कड़ाईसे साधुत्वका पालन सम्भव नहीं । तुम्हें जिह छोड़ वापिस हमारे साथ आ जाना चाहिये’ । भीखणजीने जवाब दिया ‘पंचम आरा अवश्य है परन्तु धर्म एक स्थाई वस्तु है । समयसे उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता । इस आरेमें

भी धर्म उसी रूपमें पाला जा सकता है जिस रूपमें वह पूर्व आरोंमें पाला जाता रहा । समयके बहानेको सामने रखकर शिथिलाचारका पोषण नहीं किया जा सकता । यदि पूर्व कालमें शिथिलाचार बुरा और निन्द्य था तो अब भी वह वैसाही जघन्य है । हम तो जिनेधर देवकी आज्ञाको शिरोधार्य कर शुद्ध संयम—साधुत्वपालन करना चाहते हैं ।” यह सुन आचार्य रुघनाथजीकी निराशाका ठिकाना न रहा । अब आशा का अन्तिम धागा भी टूट गया । श्रीमद् भीखणजी आचार्यके प्रिय, असाधारण विद्वान् और प्रतिभाशाली शिष्य थे । ऐसे साधुका संघमें होना एक बड़े गौरवकी बात थी । श्रीमद् भीखणजीके इस आशा-शून्य उत्तरको सुनकर आचार्य रुघनाथजीकी आँखोंमें आँसू बह निकले । यह देख साधु उदयभाणजी बोले : “आचार्य ! आप एक टोलेके अधिनायक हैं । आपको ऐसा नहीं करना चाहिये” । आचार्य रुघनाथजीने कहा, “किसीका एक जाय उसे भी फिक्क होता है—यहाँ तो भला एक साथ पाँच जा रहे हैं” ।

आचार्य रुघनाथजीके इस मोहको देखकर भी श्रीमद् भीखणजी अपने निश्चयसे विचलित न हुए । करीब ८ वर्षसे वे आचार्य रुघनाथजीके सघमें थे । इस कारणसे पारस्परिक प्रेम-भाव होना स्वाभाविक ही था । फिर भीखणजी तो अपने गुरुके विशेष स्नेह-भाजन रहे । यह सब होने पर भी वे अपने पथसे तिल मात्र भी डिगे नहीं । उन्होंने सोचा : “जिस दिन मैंने घर छोड़ा था उस दिन मेरी माताने भी स्नेह वश अनेक आँसू बहाये थे, परन्तु मैंने उस दिन उन आँसुओंकी कुछ भी परवाह न कर घरवार त्याग दिया तो अब इन आँसुओंकी कीमत ही क्या है ? यदि मैं पुनः इनके साथ मिल गया तो मुझे परभवमें विशेष रोना पड़ेगा” । यह सोचकर सत भीखणजी दृढचित्त रहे ।

### —श्रेयस्की ओर—

अब आचार्य रुघनाथजीके क्रोधका पारावार न रहा । श्रीमद् भीखणजीकी इस दृढ कटिबद्धतासे एक बड़े टोलेके अधिनायक माने जाने वाले आचार्यके अभिमानको गहरा धक्का लगा । उन्हें क्रोध आना स्वाभाविक था । आवेशमें आकर श्रीमद्

भीखणजी से बोले 'अच्छ तो तू अब देखना, तेरे कहीं भी पर न जमने पायेंगे। आगे तू है और पीछे मैं हूँ।'

संत भीखणजीने आचार्य रघुनाथजीके इन क्रोध भरे बचनोंका बड़ा ही शान्तिसे जवाब दिया- 'मैं तो परिपक्व लिये मुला हुआ हूँ। इस तरह डराया नहीं डर सकता। यह जीवन तो क्षण भंगुर है। आखिर मनुष्य जीकर कितने काल जीता है।'

हमें यहाँ सर स्वपल्ली राधाकृष्णन्के निम्नलिखित शब्द याद पड़ जाते हैं—“दुःख जीवनका कोई अकस्मात् आगन्तुक साथी नहीं, बल्कि जीवनके केन्द्रमें उसकी स्थिति है। दुःख और क्लेश में ही समस्त महत्काय सिद्ध हुए हैं।

1. “जीवनका लक्ष्य सांसारिक सुख (भ्रैयस्) नहीं बल्कि परम कल्याण (धेयस्) है। सुखका जीवन और जीवनका सुख दोनों एक चीज नहीं हैं। यदि दुःख हमें अपने जीवनके लक्ष्यके समीप पहुँचाता है तो यह भी उतना ही बड़ा सुख है जितना कि कोई सुखमय जीवन। तीव्र से तीव्र यन्त्रणा भी यदि अपने उद्देश्य की सिद्धिमें सहायक हो तो सुखपूर्वक स्वीकारकी जा सकती है।” जर्मन कवि और नाटककार गेटेने बड़े मार्मिक शब्दोंमें कहा है ‘पवतकी चढ़ाईमें शिखर मनको खींचते हैं, रास्तेकी पैदियाँ नहीं।’

सत भीखणजीकी उस समयकी अन्तर्भावना पर विचार करें तो वे इसी रूपमें सोचते हुए दिखाई देंगे। निःसन्देह ही उन्होंने ‘भ्रैयस्’ से ‘धेयस्’ को अधिक ऊँचा स्थान दिया था और कष्टकाकीर्ण मार्गको अपनानेमें इस ‘धेयस्’ का आकर्षण ही उन्हें खींच रहा था।

—धरलू में : महत्त्व पूर्ण चर्चाएँ—

इसके पश्चात् भीखणजीने निर्मयताके साथ षण्डीसे विहार कर दिया। आचार्य जगन्नाथजीने भी उनके पीछे-पीछे विहार किया। धरलूमें फिर सहरी चर्चा हुई।

आचार्य रुघनाथजीने कहा—“यह पचम आरा है, दुपम काल है, पूरा साधुपना नहीं पल सकता” ।

श्रामद् भीखणजीने जवाब दिया:—“दुपम कालमें सम्यक् चारित्र पालन करनेके उद्यम में कमी आनेके बदले और अधिक बल और पुरुषार्थ आना चाहिये । भगवानने जो पचम आरेको दुपमकाल बतलाया है, उसका अर्थ यह नहीं है कि इस कालमें कोई सम्यक् रूपसे धर्मका पालन हो न कर सकेगा । पर उसका अर्थ यह है कि चारित्र निर्वाहमें नाना प्रकारकी गारीरिक और मानसिक कठिनाइयां रहेंगी, इसलिये चारित्र पालनके लिये बहुत अधिक पुरुषार्थकी आवश्यकता होगी । भगवानने आचाराग सूत्रमें साफ कहा है. - ‘ जो गिथिलाचारी और पुरुषार्थ हीन होंगे वे ही कहेंगे कि इस कालमें शुद्ध सयम नहीं पाला जा सकता—वाल्ग्व संघयण हीन होनेसे पूरा आचार नहीं पाला जा सकता” । यह सुनकर आचार्य रुघनाथजीको महान् कष्ट हुआ, फिर भी बात सत्य होनेसे इसका प्रत्युत्तर नहीं दे सके ।

फिर आचार्य रुघनाथजीने दूसरी चर्चा छोड़ी । उन्होंने कहा—“केवल दो घड़ी शुभ ध्यान करने और शुद्ध चारित्र पालनेसे ही केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है । इस संघमें रहते हुए भी यह किया जा सकता है, अतः बाहर होनेकी आवश्यकता नहीं ।”

सत भीखणजीने कहा—“साधु-जीवन केवल घड़ी दो घड़ी शुद्ध सयम पालनेके लिये नहीं है, परन्तु वह एक निरन्तर साधना है । चारित्रकी साधनामें, सच्चा साधु एक पल मात्र भी ढीला नहीं चल सकता । दो घड़ी शुभ ध्यान और चारित्रसे केवलज्ञान प्राप्त होनेकी बात अमुक अपेक्षासे है, वह सर्वत्र लागू नहीं हो सकती । यदि केवलज्ञान पाना इतना सरल हो, तब तो मैं भी श्वासोश्वास रोककर दो घड़ों तक शुभ ध्यान कर सकता हूँ । ‘प्रभव’ और ‘गय्यभव’को केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, तब क्या उन्होंने दो घड़ी भी साधुपना नहीं पाला था ? भगवान् महावीरके १४ हजार साधु शिष्योंमें केवल सात सौ ही केवली थे । आपके कथनानुसार तो उन्होंने दो घड़ीके लिये भी शुद्ध संयम नहीं पाला । भगवान महावीरने १२ वर्ष, १३ पक्ष तक मौन ध्यान किया परन्तु केवल ज्ञान तो उन्हें

इस दीर्घ तपस्याके बादही प्राप्त हुआ। क्या आप कह सकते हैं कि इस अवधिमें दो घड़ीके लिये भी उन्होंने शुभ ध्यान नहीं ध्याया? अतः दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त करनेकी बात अमुक अपेक्षासे है। अमुक अपेक्षासे केवल दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है इसलिये यह जरूरी नहीं कि केवल दो घड़ीका समय ही इसके लिये निर्धारित कर लिया जाय और शेष जीवनको शिथिलान्तरमें बिता दिया जाय। साधुको जीवनके प्रत्येक पलमें जागरूक रहनेकी आवश्यकता है। उसके जीवनका प्रत्येक पल संयम और तपस्याकी निरन्तरतासे सजोव रहना चाहिये। खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते जागते चलते-फिरते साधुके प्रत्येक कार्यमें जागृत चाहिये तभी उसकी आत्माका उद्धार होगा। इस तरह अनेक प्रकारकी चर्चाएँ हुईं परन्तु आचार्य रुघनाथजीके हृदय पर कोई असर न पड़ा।

आचार्य रुघनाथजीके जयमलजी नामक चाचा-गुरु थे। वे भी एक टीलेके नायक थे। वे प्रकृतिके बड़े ही सरल और भद्र थे। वे श्रीमद् भीखणजीके पास आये। श्रीमद् भीखणजीने उनको सब बातें समझाईं। साधु जयमलजी श्रीमद् भीखणजीके सिद्धान्तोंकी सच्चाईसे प्रभावित हुए और उनका साथ देनेका निश्चय किया। यह बात जब आचार्य रुघनाथजीके कानों तक पहुँची तो उन्होंने जयमलजीको बहका दिया। आप भीखणजीके साथ मिल जायेंगे तो आपका कोई अलग टोला न रहेगा। आपके साथ भीखणजीके साथ माने जायेंगे। इससे भीखणजी का काम बन जायगा परन्तु आपका कोई नाम नहीं रहेगा।” इस तरहकी बात सुन जयमलजीका विचार फिर गया। उन्होंने श्रीमद् भीखणजीके साथ मिलनेका विचार छोड़ दिया। अपनी असमर्थता प्रगट करते हुए उन्होंने साफ शब्दोंमें कहा—“भीखणजी! मैं तो गले तक डूब चुका हूँ। आप शुद्ध साधु-जीवनका पालन कीजिये हमारे लिये तो वह अशक्यही है।” इस तरह आचार्य रुघनाथजी नाना प्रकारकी बाधाएँ भीखणजीके मार्गमें उपस्थित करते थे परन्तु वे जरा भी विचलित होने वाले न थे।



## —वीर-गोतम की जोड़ी—

अब सत भीखणजीने आत्मोद्धारके लिये पुनः दीक्षा लेनेका विचार किया और इसके लिये वे एकाग्रतासे तैयारी करने लगे । इस समय संत भीखणजीके साथ भारीमालजी नामके साधु और इनके पिता कृष्णोजी भी थे । ये दोनोंही सत भीखणजीके स्वहस्त दीक्षित साधु थे । कृष्णोजीकी प्रकृति बड़ी उग्र थी । वे साधु-जीवनके लिये अयोग्य थे । यह देखकर संत भीखणजी भारीमालजीसे बोले: “तुम्हारे पिता साधु बननेके योग्य नहीं है । हम नई दीक्षा लेने का विचार करते हैं । जोरोंसे विरोध होनेकी सम्भावना है । आहार-पानीकी कठिनाई पग-पग पर होगी । इन कठिनाइयोंको भेलेनेकी हिम्मत कृष्णोजीमें नहीं मालूम देती । साधु जीवनमें वाणीके सयमकी भी विशेष आवश्यकता है । इसका कृष्णोजीमें अभाव है । अनेक कटु वचनोंको सहना होगा । तुम्हारी क्या इच्छा है—मेरे साथ रहना चाहते हो या अपने पिता के साथ ?”

साधु भारीमालजीने दश वर्षकी अवस्थामें दीक्षा ली थी । चार वर्ष तक वे आचार्य रुघनाथजीके टोलेमें थे । इस समय उनकी अवस्था केवल १४ वर्षकी थी । बालक साधु भारीमालजीने दृढताके साथ कहा : “मैं आपके साथ ही रहूँगा । मुझे पितासे कोई सम्पर्क नहीं है । मैं तो शुद्ध साधुत्व पालनेका इच्छुक हूँ, मुझे आपका विश्वास है । मैं आपके साथही रहूँगा” । फिर भीखणजीने कृष्णोजी से कहा: “हमारा पुनः दीक्षा लेनेका विचार है । चारित्र्य पालन बहुत मुश्किल है, अतः हम आपको साथ नहीं रख सकते” । कृष्णोजीने कहा—“यदि मुझे साथ नहीं रखते तो मेरे पुत्रको भी मुझे सौंप दें । उसको आप नहीं ले जा सकते” । भीखणजी बोले: “यह आपका पुत्र रहा । मैं मना नहीं करता । आप इसे अपने साथ ले जा सकते हैं । मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है” । तब कृष्णोजी साधु भारीमालजीको लेकर दूसरी जगह चले गये ।

साधु भारीमालजी पिताके इस कार्यसे बड़े असंतुष्ट हुए। उन्होंने इस बातकी प्रतिज्ञा कर ली कि जीवन-पर्यन्त कृष्णोजीके हाथका आहार पानी नहीं खूँगा। इस तरह भनशन करते हुए दो दिन निकल गये। भारीमालजी पर्वतकी तरह दृढ़ रहे। तब कृष्णोजी भी हतोत्साह हो गये और साधु भारीमालजीको फिर संत भीखणजीके पास लाकर छोड़ दिया और बोले: “यह आप ही से राजी है। मुझे तो यह जरा भी नहीं चाहता। इसको आहार पानी लाकर दीजिये जिससे यह भोजन करे। इसका पूरा यत्न रखिएगा। और आप नई दीक्षा लें उसके पहिले मेरा भी कहीं ठिकाना लगा दें”। यह सुनकर संत भीखणजीने कृष्णोजीको आचार्य जयमलजीके पास भेज दिया।

बालक साधु भारीमालजी एक बड़ी कड़ी आँचसे निकले। संत भीखणजी वैसे ही मनुष्योंके बड़े अच्छे पारखी थे। एक जौहरीकी तरह उन्हें मनुष्योंकी परख थी। इस कसीटी पर खरे उत्तरनेके बाद तो साधु भारीमालजीके प्रति उनका आकर्षण और भी अधिक हो गया। उन्होंने अपने हृदयमें समझ लिया कि वह बालक कितने मूल्यवान सत्त्वका बना हुआ है। धम पर प्राण न्यौछावर कर देनेवाले साधुओंकी ही उन्हें अहुरत थी और साधु भारीमालजीके रूपमें उन्हें एक ऐसे ही दृढ़-चित्त शिष्यका संयोग मिला था। संत भीखणजीने अपने कुशल हाथोंसे इस होनहार बालकको धड़कर किस तरह महान् बनाया और उसके भाग्यको किस तरह धमकाया यह आगे जाकर पाठकोंको मालूम होगा।

### —तेरापन्थी नामकरण का इतिहास—

विहार करते-करते संत भीखणजी जोधपुर पहुँचे। साधु टोकरजी, हरनाथजी, भारीमालजी और वीरमाणजीने उनके साथ ही आचार्य रुचनाथजीसे सम्बन्ध विच्छेद कर दिया था। वे भी विहारमें साथ थे। योकेही समयमें और ८ साधु उनके साथ आ मिले और इस तरह साधुओंकी कुल संख्या १३ हो गई।

इस समय तक १३ श्रावक भी उनके श्रद्धालु हो गए। १३ साधुओंमें ५ आचार्य रुघनाथजीकी सम्प्रदायके, ६ जयमलजी और २ अन्य सम्प्रदायके थे।

उस समय साधु नियत स्थानोंमें रहने लगे थे। इन नियत स्थानोंको 'स्थानक' कहा जाता था और वे साधुओंके ठहरनेके निमित्त ही बनाए हुए होते थे। शाक्य मुनि गौतम बुद्ध और भगवान महावीर समकालीन होने पर भी जहाँ बौद्ध मुनि विहारोंमें उतरते वहाँ जैन मुनियोंके लिए याचित स्थानोंमें ठहरने का ही विधान था। नियत स्थानोंमें उतरना जैन धर्ममें अनाचार—विपरीत आचरण माना गया है और आधाकमी-दोषका सेवन कहा गया है। अतः संत भोखणजी इन 'स्थानकों' में उतरनेके घोर विरोधी थे। आचार्य रुघनाथजी और उनके विचारोंमें एक बड़ा अन्तर यह भी था। चूँकि सत भोखणजी और उनके सगी-साथी साधुओंने स्थानकों का बहिष्कार कर दिया था अतः उनके श्रद्धालु श्रावकोंने भी सामायिक आदि धर्म-क्रियाओंके लिये स्थानक जान छोड़ दिया।

एक दिन बाजारकी खुली दुकानमें कई श्रावक सामायिक और पौषध कर रहे थे। उस दिन उस समयके जोधपुर के दिवान फतेहचन्दजी सिधी का बाजार होकर निकलना हुआ। बाजारके चौहट्टेमें श्रावकोंको सामायिक पौषध करते देख उन्हें आश्चर्य हुआ। कौतुहल वश उन्होंने श्रावकोंसे कारण पूछा। प्रश्न करने पर श्रावकोंने आचार्य रुघनाथजीसे संत भोखणजीके अलग होनेकीसारी बात कह सुनाई और जैन शास्त्रोंकी दृष्टिसे अपने निमित्त बनाए मकानोंमें उतरना साधुओंके लिए कितना दोष-पूर्ण और आचार-विरुद्ध है यह भी बताया।

बादमें दिवान साहबने पूछा : "संत भोखणजीके मतमें कितने साधु हैं और कितने श्रावक ?" श्रावकोंने उत्तर देते हुए बतलाया—“१३ साधु हैं और १३ ही श्रावक”। यह सुनकर दिवान साहब बोले : “अच्छा सयोग है—

‘तेरा’ ( तेरह ) ही साधु हैं और ‘तेरा (तेरह) ही धावक ! सिंधीजोके पासही एक सेवक जानिक कवि रखा था । वह यह सब घातलाप बड़ी दिलचस्पीसे सुन रहा था । उसने तुरन्तही एक दोहा बना सुनाया जिसमें सत भोखणजोके मत को १३ साधु व १३ भावकोंके विचित्र संयोग के कारण उसने ‘तेरापन्थी’ कहकर सम्बोधित किया ।

“साध साधरो गिलो करे  
ते तो आप-आपरो मत  
सुणज्यो रे शहर रा लोकां  
ए ‘तेरापन्थी’ तत”

उस सेवक कविके मुखसे ‘तेरापन्थी’ नामकरण सुनकर सत भोखणजोके विरोधी लोगोंने इस शब्दको मजाकके काममें लाना शुरू कर दिया और इस अन्य संख्यक मतको उझानेके लिये उसे ‘तेरापन्थी’ कहकर सम्बोधित करने लगे ।

सारी बात सत भोखणजोके कानोंमें भी पड़ी । कवि द्वारा आकस्मिक व्यवहृत ‘तेरापन्थी’ शब्द उनको बड़ा अर्थ गौरव पूर्ण मालूम दिया । उनकी अन्तर विचार धारा की सारी अभिव्यक्ति उन्हें इसी एक शब्द में गर्मित मालूम दी । अपनी आश्चर्यकारी प्रत्युत्पन्न बुद्धिक सहारा ले उन्होंने इस शब्दकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की और अपने मतवादके ब्यक्तिकरणके लिये इसी अर्थ सूचक शब्दको सदाके लिए अपना लिया । मारवाड़ीमें १३ संख्या ‘तेरा’ कही जाती है ओर तेरा’ न्स शब्दका अर्थ तुम्हारा भी होता है । इन दोनों अर्थोंको सामने रखकर सत भोखणजीने ‘तेरापन्थी’ शब्दका अर्थ-स्पष्टीकरण इस प्रकार किया —

‘हे प्रभु ! तेरा ही पन्थ हमें पसन्द आए, हम तेरापन्थी हैं ।

तेरे पन्थमें पांच महाव्रत, पांच समिति  
एन तेरह बातोंको पूरी तरह मानते हैं  
तरापन्थी हैं ।

जिस मार्गमें गुणोंको स्थान है—वेपको नहीं, जिसमें जीव चेतन पदार्थ ओर अजीव अचेतन पदार्थ अलग-अलग माने गये हैं, जिसमें पुण्यको शुभ कर्म और पापको अशुभ कर्म माना गया है, जिसमें आश्रवको कर्म ग्रहण और सत्रको कर्म निरोधका हेतु माना गया है, जिसमें निर्जराको कर्म क्षयका हेतु और बन्धको जीव और कर्मका परस्पर एकावगाह होना तथा मोक्षको सम्पूर्ण सुख माना गया है—वह तेरापन्थ है। जो व्रत और अव्रत, सावद्य और निरवद्यको अलग-अलग बतलाया हुआ, तेरी ही आज्ञाको शिरोधार्य मान कर चलता है, वह तेरापन्थ नहीं, तो किसका पन्थ है।” इस तरह सत भीखणजीने ‘तेरापन्थी’ शब्दका एक अनुपम अर्थ लगा दिया और उनके अनुयायी ‘श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी’ कहलाने लगे।

### नव प्रव्रज्या और प्रथम चातुर्मास

अब तेरह ही साधु नव दीक्षा लेनेकी तैयारी करने लगे। परस्पर सैद्धान्तिक चर्चाएँ कीं। शास्त्रोंका अच्छी तरहसे मनन किया। परन्तु चतुर्मास निकट आ जानेसे कई विषयों पर पूरा विचार न हो सका। इसलिए सत भीखण जीने कहा—“चौमासा समाप्त हो जाने पर फिर चर्चा करेंगे और परस्पर श्रद्धा और आचार मिलने पर ही सम्मिलित भोजन करेंगे”। इस तरह कह सत भीखणजीने साधुओंके चौमासे निर्धारित कर दिये और आज्ञा दी—“आपाढ सुदी पूनमके दिन सर्व साधु नई दीक्षा लें”।

इसके बाद सत भीखणजीने मारवाड़से मेवाड़की ओर प्रस्थान किया और केलवे पधारे। वहाँ सम्वत् १८१७, मित्ती आपाढ सुदी १५ के दिन अरि-हन्त भगवानको नमस्कार कर, अठारह पापोंका त्याग करते हुए सर्व सिद्धोंकी साक्षीसे नव दीक्षा ली। अन्य साधुओंने भी उनका पदानुष्करण किया।

श्रीमद् आचार्य भीखणजीने केलवेमें ही प्रथम चौमासा किया। इस चौमासेमें हरनाथजी, टोकरजी और भारीमालजी ये तीन सत भीखणजीके साथ थे।

खाहे कि धार पैनी थी, पर जीवन और मरण को पर्याय—अवस्थान्तर मात्र समझने वाले के लिए उस पर चलना जरा भी कठिन नहीं था। वे गाँवोंगाँव धर्मों परदेश देते हुए विचरने लगे। यह देख कर आचार्य रुघनाथजी के क्रोध का पारा और भी गर्म हो गया। उन्होंने लोगों को अनेक तरह से बहकाना शुरु किया। उनके बहकावे में आकर लोग स्वामीजी को जमाली और गोशाले की उपमाएँ देने लगे। कोई कहता—‘ये जिन्हव हैं इनकी संगत मत करना।’ कोई कहता—‘इन्ने देव गुरु धम को उठ्र दिया है। ये जीव बचाने में अठारह पाप बतलाते हैं।’ इस तरह चारों ओर से कटु वचनों के प्रहार होने लगे। कोई प्रश्न करने के बहाने और कोई दशान करने के बहाने आकर उनको खरी-खोटी सुना जाता। परन्तु आचार्य भीखणजी क्षमा-शूर थे। वे इन प्रहारों को फूलों की बौछार की तरह झेलते। होंप उन्हें छूता भी नहीं। उनके भावों में अत्यन्त मधुरता रहती। समभाव पूर्ण सहनशीलता के वे अचलन्त उदाहरण थे।

श्रीमद् आचार्य मीखणजी के कष्टों की इतने ही तक संज्ञा न थी। उन्हें केवल तीर के समान तीखे वचनों को ही नहीं झेलना पड़ा, पर अन्य अनेक प्रकार के कष्ट भी उन्हें उठाने पड़े। आचार्य रुघनाथजी ने लोगों को यहाँ तक बहका दिया था कि उन्हें ठहरने के लिए कोई स्थान तक नहीं देता। वे जहाँ जाते वहाँ एक विरोध का दावानल-सा सुलगता दिखाई देता और अगोखे अनुभव होते। एक बार वे बिलोड़ पधारे। उनके पहुँचने की खबर मिलते ही वहाँ के लोगों ने बन्दोबस्त किया—‘जो भीखणजी को १ रोटी देगा उसे ११ सामायिक दण्ड की आवेगी।’ एक दिन किसी के घर गोचरी पधारे तो उस घरकी बाइ बोली—‘यदि मैं आपको रोटी दूँ तो मेरी ननद की, जो स्थानक में बैठी सामायिक कर रही है सामायिक मल जाय—नष्ट हो जाय। इस तरह जनता में नाना प्रकार के भ्रम फैला कर आचार्य

को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए’—इस उपदेश द्वारा उस सर्प को भी मन्त्र-मुग्ध कर दिया। आत्मिक बल द्वारा किस तरह विजय प्राप्त की जा सकती है और मनोरथ सफल किये जा सकते हैं, उसका एक नमूना है। ‘अभय से ही अभय प्राप्त होता है’ यह इस घटना से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है। वास्तव में अहिंसा में हृदय परिवर्तन की अजोड़ शक्ति होती है। स्वामीजी में यह शक्ति भर पूर थी।

चौमासे के बाद तेरह संत एक जगह एकत्रित हुए। वख्तरामजी और गुलाब जी नामक दो साधुओं की मान्यता भिन्न हो गई इसलिए वे अलग कर दिये गये। वीरभाणजी कई वर्षों तक आचार्य भीखणजी के पास रहे। परन्तु वे बड़े अविनयी थे, अतः बाद में उन्हें भी दूर कर दिया गया। लिखमीचन्दजी, भारीमालजी, रूप-चन्दजी और प्रेमजी साधु भी बाद में निकल गये। इस तरह आदि के तेरह साधुओं में से केवल आचार्य भीखणजी, थिरपालजी, फतेहचन्दजी, टोकरजी, हरनाथजी और भारीमालजी ये छः सन्त जीवन-पर्यन्त एक साथ रहे।

इस प्रकार शुद्ध जीवन यापन के लिए श्रीमद् आचार्य भीखणजी ने आगे कदम बढ़ाया परन्तु सामने का मार्ग सरल न था। रास्ते में विपत्तियों के पहाड़ के पहाड़ खड़े थे। पर-वे इन सब विघ्न बाधाओं से विचलित होने वाले न थे। वे एक ऐसे चट्टान की तरह दृढ़ खड़े रहे जिस पर हजारों-लाखों प्रहारों का भी कोई असर नहीं पड़ता। उन्हें तो केवल आत्म-साक्षात्कार की ही प्यास थी। जिन-शासन के उद्धार के लिए वे अपने प्राणों तक की होड़—बाजी लगा चुके थे। पूज्य जयाचार्य ने ठीक ही कहा है :—

भारी गुण भिक्खु तणा कइया कठा लग जाय,

मरणधार शुद्ध मग लियो कमिय न राखी काय।

अर्थात्—“आचार्य भीखणजी के गुणों का कहाँ तक वर्णन किया जाय ? उन्होंने जिन-शासन के उद्धार कार्य में कोई कमी न रखी और प्राण दे देने तक का निश्चय करके ही उन्होंने यह काम उठाया था।”

खाँड़े कि धार पैनी थी, पर जीवन और मरण को पर्याय—अवस्थान्तर मात्र समझने वाले के लिए उस पर झलना जरा भी कठिन नहीं था। वे गाँवोंगाँव धर्मोपदेश देते हुए विचरने लगे। यह देख कर आचार्य रुघनाथजी के क्रोध का पारा और भी गर्म हो गया। उन्होंने लोगों को अनेक तरह से बहकाना शुरू किया। उनके बहकावे में आकर लोग स्वामीजी को जमाली और गोशाले की उपमाएँ देने लगे। कोई कहता—‘ये निन्हव हैं इनकी संगत मत करना।’ कोई कहता—‘इनने देव गुरु धर्म को उठा दिया है। ये जीव बचाने में अठारह पाप बतलाते हैं।’ इस तरह चारों ओर से कटु बचनों के प्रहार होने लगे। कोई प्रश्न करने के बहाने और कोई दशान करने के बहाने आकर उनको खरी-खोटी सुना जाता। परन्तु आचार्य भीखणजी क्षमा-शूर थे। वे इन प्रहारों को फूलों की बौछार की तरह झेलते। द्वेष उन्हें झूटा भी नहीं। उनके भावों में अत्यन्त मधुरता रहती। समभाव पूर्ण सहनशीलता के वे अचलन्त उदाहरण थे।

धीमद् आचार्य भीखणजी के कष्टों की इतने ही तक सीमा न थी। उन्हें केवल तीर के समान तीले बचनों को ही नहीं झेलना पड़ा, पर अन्य अनेक प्रकार के कष्ट भी उन्हें उठाने पड़े। आचार्य रुघनाथजी ने लोगों को यहाँ तक बहका दिया था कि उन्हें ठहरने के लिए कोई स्थान तक नहीं देता। वे जहाँ जाते वहाँ एक विरोध का दाबानल-सा मुलंगता दिखाई देता और अनोपे अनुभव होते। एक धार वे बिलोढ़े पधारे। उनके पहुँचने की खबर मिलते ही वहाँ के लोगों ने बन्दोबस्त किया—‘जो भीखणजी को १ रोटी देगा उसे ११ सामायिक दण्ड की आवेगी।’ एक दिन किसी के घर गोबर की पधारे तो उस घरकी भाई बौली—‘यदि मैं आपको रोटी दूँ तो मेरी मनद की, जो स्थानक में बैठी सामायिक कर रही है सामायिक गल जाय—नष्ट हो जाय। इस तरह जनता में नाना प्रकार के भ्रम फैला कर आचार्य भीखणजी को विचलित करने की चेष्टा की गई। परन्तु इन विघ्न बाधाओंसे वे फौलादी पुरुष क्या धक्काते और क्या मार्ग च्युत होते? मेघकी



काली घटायें सूर्यको आच्छादित कर सकती हैं, पर उसकी हस्तीको नहीं मिटा सकती। आचार्य रुघनाथजीकी हरकर्तें भी मरणांतक कष्ट पहुँचा सकती थीं परन्तु आचार्य जैसे वीर पुरुषको लचानेकी ताकत उनमें क्या होती ?

“जो लोग सच्चे धार्मिक हैं, उनके अन्दर एक ऐसी स्थिरता होती है जो सप्त विपत्तसे विचलित नहीं होती। आध्यात्मिक जीवनका सार ही यह है कि आत्मा इतनी महान् है कि भयानकसे भयानक विपत्ति भी उसे डिगा नहीं सकती। जो आत्मवान् हैं वे दुनियाके ऊपर रहते हैं, दुनियाको उन्होंने जीत लिया है। उन पर गोलियाँ वरस रही हों तो भी वे सच बोल सकते हैं, उनकी बोटी-बोटी काटी जाय तो भी प्रतिशोधकी भावना उनके हृदयमें आग नहीं लगा सकती। उनकी दृष्टि विश्व व्यापिनी होती है। इससे किसी सांसारिक आशक्ति या स्वार्थमें रत होना वे मूर्खता और व्यर्थता समझते हैं। बलिदान जो कीमतका विचार नहीं करता, आत्मोत्सर्ग जो बदलेमें कोई चीज नहीं चाहता, वही उनका नित्य जीवन होता है।” आचार्य भीखणजीके सम्बन्धमें ये विचार सम्पूर्ण रूपसे लागू पड़ते हैं।

उन तूफानी दिनोंका थोड़ा सा वर्णन आचार्य भीखणजीने अपने परम शिष्य हेमराजजी स्वामीसे किया था। वह कितना हृदय-द्रावक है, यह पाठक पढ़कर ही अनुभव कर सकेंगे:

‘हम लोग जब रुघनाथजीसे अलग हुए तबसे पाँच वर्ष करीब तक तो घी चुपड़े की तो बातही क्या ह्वा-सूखा आहार भी पूरा नहीं मिलता था। कपड़ेका तो यह हाल था कि कभी १।) रुपयेकी कीमतकी वासती ( रेजी ) मिल जाती तब भारीमाल अर्ज करता कि आप इसकी पछेवड़ी बना लीजिये। मैं कहता—‘इसकी पछे-वड़ी नहीं, चोलपट्टे बनाओ—एक तुम्हारे लिये और एक हमारे लिये।’ जो कुछ आहार-पानी मिलता उसे लेकर सब साधु जंगलमें चले जाते। वहाँ आहार तो वृक्षों की छायामें रख देते और फिर सब साधु सूर्यके कड़कड़ते तापमें आतापना लेते। शामको वापिस गाँवमें आते। ऐसा कष्ट सहन करते और कर्म काटते।”

इस तरह नाना प्रकारके कष्ट एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, परन्तु लगातार वर्षों तक आचार्य भीखणजी और उनके साथी साधुओंको सहने पड़े थे। परन्तु उन्होंने उनके सामने कभी मस्तक नहीं झुकाया। एक वीर प्रती की तरह विपदाओंसे लड़ते और दुपह कष्टोंको समभाव पूर्वक सहन करते, एक सच्चे साधुका जीवन बिताते जाते थे। भगवान महावीरके निम्नलिखित प्रवचन उनके जीवनके सूत्र बन चुके थे।

खुद पिपासं दुस्तिज्ज, सीढण्हं अरई भय

अहिआसे अव्वहिओ, देह दुक्खं महाफल

अर्थात्—‘शुधा, तृष्णा ताप, ठण्ड, अहृचिकर प्रसंग व भयके प्रसंगोंकी सुसुख पुरुष अव्याकुल चित्तसे सहन करता है और जानता है कि धर्मके लिये देह दुःख महान् फलका हेतु होता है।’

‘अह णं वयमावन्नं, फससा उच्चावया फुसे

न तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी

अर्थात्—‘जिस तरह महागिरि वायुके झोकेसे झोलायमान नहीं होता उसी तरह व्रतधारी पुरुष सम-विषम, अनुकूल-प्रतिकूल परिपहों-कष्टों के पड़ने पर धर्म च्युत नहीं होता।’

जे उ संगम कालमि नाया सुरपुरगया

णो ते पिट्ठसुवेहिति, किं पर मरणं सिया

अर्थात्—‘जो विख्यात सुर-पु गव होते हैं वे संग्रामके समय भविष्यकी चिन्ता नहीं करते। वे समझते हैं कि मरणसे निम्न दूसरा क्या हो सकता है ?



## प्रचार कार्य -

### —मौन साधक—

श्रमण भगवान महावोरने सच्चे धर्म पर श्रद्धा होना महा दुर्लभ बतलाया है। वर्षोंसे आते हुए सस्कार और विचार-धारा को हटा नवीन और शुद्ध विचार धाराको जनताके जोवनमें उतारना कोई सरल कार्य नहीं होता और खास कर उस समयमें जब कि लोगोंमें हृद दर्जेकी जड़ता जड़ जमाए हुए हो और विचार शीलताके स्थानमें केवल अधभक्ति और स्थितिपालकता हो काम कर रही हो। आचार्य भोखणजीका जमाना ऐसा ही था। उस समयके लोगोंकी अन्ध-श्रद्धा, दाम्भिकता और ज्ञानहीनता को देख कर आचार्य भोखणजीने विचार किया: “लोग जन्म-धर्म से कोसों दूर पड़े हैं। जैन आचार और विचारका पूर्ण अभाव है। अधिकांश लोग गतानुगतिक हैं और सत्यासत्यका निर्णय अपनी विवेक बुद्धिसे न कर असेसे चली आती विचार परम्परासे करते हैं। मूल जैन सस्कृति और आचार-विचारको भूल बैठे हैं। ऐसी हालतमें धर्म-प्रचारका कोई रास्ता नहीं दिखाई देता और उसके लिए परिश्रम करना केवल समय गमाना है। इस क्रांति मार्गमें साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविकाओं का होना मुश्किल है। अतः धर्म प्रचारकी ओर ध्यान न देकर आत्मोन्नति में ही संतोष करना चाहिये।” ऐसा विचार कर वे सर्वतोभाव आत्म—कन्याणमें लग गये। जन-कल्याणसे दृष्टि हटा स्व-कल्याणको ही अपनी साधना का केन्द्र बना लिया और उस आत्म-साधना में वे कितने उत्कट रूपसे लगे इसका वर्णन कुछ ऊपरमें आया है। उन्होंने सतों के साथ एकान्तर उपवास करना शुरू किया और चौविहार उपवासमें ऋद्धि धूपमें आतापना लेते। यह लोमहर्षक तपस्या दीर्घ काल तक चली। आचार्य

भीखणजीने एकवार हेम ऋषिसे कहा था " हम कब जानते थे कि हमारे सिद्धान्तों को लोग स्वीकार करेंगे साधु बनेंगे या भ्रातृ-भ्रातृकाएँ होंगी । हम लोगोंने तो सिर्फ अपने ही आत्म-कल्याणकी विचारी थी । उसी प्रकार तपस्या करते-करते जीवन यात्रा समाप्त करनेकी आशा थी ।"

इस कठोर तपश्चर्यासे साधुओंके शरीर अस्वियपजर हो गए । परन्तु जीवन-शुद्धिका यह यज्ञ परोक्ष रूपसे जीवनकी अमरता-मैलीको हरा-भरा कर रहा था । आचार्य भीखणजी और सतोंकी यह कल्पित करनेवाली तपस्या मानो वही दुजय युद्ध या जिसका दणन उत्तराध्ययन सूत्रकी निम्न गायामें किया गया है

ओ सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे ।

एणं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥

अप्पाणमेव जुज्जाहि कि ते जुज्जेण वज्जओ ।

अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए ॥

आचार्य भीखणजी की इस लोमहृदक तपस्याका प्रभाव धीरे धीरे जनता पर पड़ता जाता था । अब लोगोंने समझा कि जो शुद्ध जीवन-यापनके लिए अपने प्राणों तक को अपनी हथेलीमें रक्ता है वह एक कितना बड़ा त्यागी और महान् पुरुष है । आचार्य भोखणजीकी निर्भीक दृढ़ता उन्का असीम त्यागभाव और उम्र तपस्या लोगों को सहानुभूति उन्की ओर खींचने लगी । भोजन और पानी की कठिनाइयाँ उपस्थित कर जो आचार्य भीखणजीको दिगाना चाहते थे उन्को उन्होंने यह पदाय-पाठ सिखाया कि भूख और प्यास की कठिनाइयोंसे वे दिगने वाले नहीं हैं । इनकी वे जरा भी परवाह नहीं करते । राने-रानेकी चोजों का तो वे और उन्के साधु श्वेच्छा पूर्वक त्याग कर सकते हैं । उन्का जीवन खाने-पीने के सुखके लिये नहीं है, परन्तु संयमी जीवनकी कठिनाइयोंको सहनेके लिये है । आचार्य भीखणजीको इस तपस्यासे लोगोंमें श्रद्धा जागी । लोगोंने सोचा कम से कम उन्की बात ही सुननी चाहिये । इस विचारसे लोग उन्के पास जाने लगे । जो

पूछते उन्हें आचार्य भीखणजी जैन सिद्धान्तका वास्तविक स्वरूप बतलाने । भाजा तिग्मे है और अनाशा किसमें है, व्रत क्या है और अव्रत क्या है. इसका विदलेपन करते । लोग उनके सिद्धान्तमें सत्य बात देख कर प्रभावित होते, पर पक्की हुई बातों को छोड़ नहीं सकते । इस तरह कुछ विचार शील व्यक्तियोंमें आचार्य भीखणजीके वचनानुगत से शुद्ध भद्राको प्राप्त कर धर्मके सच्चे स्वरूपको पहचाना । हम ऊपर ही यह आये हैं कि आचार्य महाराजका ध्येय कुछ और ही हो चुका था और इसी कारण मैंने लोगों पर जो लगा कर परिश्रम भी नहीं करते थे ।

### —उपदेशक आचार्य—

शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को बोधि प्राप्त हुई तो उन्हें लगा कि जगत् के छलैशी लोक उनके मार्ग को नहीं सुनेगे और उसका अनुसरण नहीं करेंगे । अतः एकान्त में मौन धारण कर रहना ही उचित होगा । उस समय ब्रह्मदेव उनके समक्ष उपस्थित हो, हाथ जोड़कर बोले—“हे बुद्ध गुरु ! अपने अमृत तुल्य धर्म का लोकों को उपदेश द । इस जगत् में ऐसे अनेक जीव हैं, जिनके ज्ञान पर अज्ञान का पददा नहीं पड़ा है । केवल आपके धर्म वाक्य कान में न पढने से उन्हें भारी हानि हो रही है । यदि आप उपदेश करेंगे तो उसके रहस्य को जानने वाले अनेक लोग इस जगत् में मिलेंगे । पर्वत शिखर पर रह कर जैसे नीचे प्रदेश में लोक की तरफ देखते हैं, उसी तरह प्रज्ञा के शिखर पर चढ़ आप इस जन्म-जरा आदिक दुःख से पीड़ित लोगों की तरफ निर्भय रूप से दृष्टि-पात करें । हे शूरवीर ! मार के साथ युद्ध कर आपने विजय प्राप्त की ! हे लोक नायक ! आप सर्व ऋण से मुक्त हुए हैं । अब लोक में फिर-फिर कर आप अपने धर्म का प्रचार करें । आपके धर्म को समझने वाले अनेक लोक आपको मिलेंगे ।”

श्रीमद् आचार्य भीखणजी के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी, जिसने उनके जीवन के रुख को बदल दिया और उन्हें मौन-साधक से उपदेशक आचार्य

भीखणजीने एकबार हेम ऋषिसे कहा था ' हम कब जानते थे कि हमारे सिद्धान्तों को लोग स्वीकार करेंगे साधु बनेंगे या भ्रातृक-ध्राविकाएँ होंगी । हम लोगोंने तो सिर्फ अपने ही आत्म-कल्याणकी विचारी थीं । उसी प्रकार तपस्या करते-करते जीवन यात्रा समाप्त करनेकी आशा थी । "

इस कठोर तपश्चर्यासे साधुओंके शरीर अस्थिपज्वर हो गए । परन्तु जीवन-शुद्धिका यह यज्ञ परोक्ष रूपसे जीवनकी अमरता-बेत्तीको हरण-भरा कर रहा था । आचार्य भीखणजी और संतोंकी यह कपित करनेवाली तपस्या मानो वही दुर्जय युद्ध था जिसका वणन उत्तराध्ययन सूत्रकी निम्न गायामें किया गया है

ओ सहस्र सहस्राणं सगामे दुज्जए जिणे ।

एमं जिणेज्ज अप्पाण एस से परमो जओ ॥

अप्पाणमेव जुज्जाहि कि ते जुज्जेण बज्जमथी ।

अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए ॥

आचार्य भीखणजी की इस लोमहर्षक तपस्याका प्रभाव धीरे धीरे जनता पर पड़ता जाता था । अब लोगोंने समझा कि जो शुद्ध जीवन-यापनके लिए अपने प्राणों तक को अपनी हथेलीमें रक्ता है वह एक कितना बड़ा त्यागी और महान् पुरुष है । आचार्य भीखणजीकी निर्भीक दृढ़ता उनकी असीम त्यागभाव और उग्र तपस्या लोगों को सहायुभूति उनकी ओर खींचने लगी । भोजन और पानी की कठिनाइयाँ उपस्थित कर जो आचार्य भीखणजीको दिगाना चाहते थे उनको उद्दामि यह पदाथ-पाठ सिखाया कि मूत्र और प्यास की कठिनाइयोंसे वे टिगने वाले नहीं हैं । इनकी वे जरा भी परवाह नहीं करते । खाने-पीनेकी चीजों का तो वे और उनके साधु स्नेच्छा पूर्वक त्याग कर सकते हैं । उन्का जीवन खाने-पीने के सुखके लिये नहीं है, परन्तु संयमी जीवनकी कठिनाइयोंको सहनेके लिये है । आचार्य भीखणजीकी इस तपस्यासे लोगोंमें श्रद्धा जागी । लोगोंने सोचा कम से कम उनकी बात तो सुननी चाहिये । इस विचारसे लोग उनके पास जाने लगे । जो

पूछते उन्हें आचार्य भीखणजी जैन सिद्धान्तका वास्तविक स्वरूप बतलाते । आज्ञा क्रिममें है और अनाज्ञा किसमें है, व्रत क्या है और अव्रत क्या है, इसका विदलेपण करते । लोग उनके सिद्धान्तमें सत्य बात देख कर प्रभावित होते, पर पकड़ी हुई बातको छोड़ नहीं सकते । इस तरह कुछ विचार शील व्यक्तियोंने आचार्य भीखणजीके वचनानामृत से शुद्ध भ्रमोंको प्राप्त कर धर्मके सच्चे स्वरूपको पहचाना । हम ऊपर ही कह आये हैं कि आचार्य महाराजका ध्येय कुछ और ही हो चुका था और इसी कारण ने वे लोगों पर जो लगा कर परिश्रम भी नहीं करते थे ।

### —उपदेशक आचार्य—

शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को बोधि प्राप्त हुई तो उन्हें लगा कि जगत् के सुखेशी लोक उनके मार्ग को नहीं सुनेंगे और उसका अनुसरण नहीं करेंगे । अतः एकान्त में मौन धारण कर रहना ही उचित होगा । उस समय ब्रह्मदेव उनके समक्ष उपस्थित हो, हाथ जोड़कर बोले—“हे बुद्ध गुरु ! अपने अमृत तुल्य धर्म का लोकों को उपदेश दे । इस जगत् में ऐसे अनेक जीव हैं, जिनके ज्ञान पर अज्ञान का पददा नहीं पडा है । केवल आपके धर्म वाक्य कान में न पढने से उन्हें भारी हानि हो रही है । यदि आप उपदेश करेंगे तो उसके रहस्य को जानने वाले अनेक लोग इस जगत् में मिलेंगे । पर्वत शिखर पर रह कर जैसे नीचे प्रदेश में लोक की तरफ देखते हैं, उसी तरह प्रज्ञा के शिखर पर चढ आप इस जन्म-जरा आदिक दुःख से पीड़ित लोगों की तरफ निर्भय रूप से दृष्टि-पात करें । हे शूरवीर ! मार के साथ युद्ध कर आपने विजय प्राप्त की ! हे लोक नायक ! आप सर्व ऋण से मुक्त हुए हैं । अब लोक में फिर-फिर कर आप अपने धर्म का प्रचार करें । आपके धर्म को समझने वाले अनेक लोक आपको मिलेंगे ।”

श्रीमद् आचार्य भीखणजी के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी, जिसने उनके जीवन के स्वरूप को बदल दिया और उन्हें मौन-साधक से उपदेशक आचार्य

यना दिया। युद्ध की तरह वे भी मार पर विजय प्राप्त कर चुके थे। अत्मा की सब हल्की प्रवृत्तियों पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली थी और उनके मनमें जरा भी विषय-वासना न थी। युद्ध के सामने एक ब्रह्मदेव उपस्थित हुए, परन्तु उस समय भीमद् आचार्य भीखणजी के उपदेश की इतनी अधिक जल्दत थी कि उनके सामने दो-दो ब्रह्मदेव उपस्थित हुए। युद्ध के ब्रह्मदेव आकाश से उतर कर आये परन्तु संत भीखणजी के ब्रह्मदेव तो उनके पास ही थे। वे थे—साधु धिरपालजी और फतेहचन्दजी। ये दोनों ही पिता-पुत्र थे। दोनों ही बड़े तपस्वी, भद्र, विचार शील और सरल प्रवृत्ति के थे। आचार्य भीखणजी के प्रति अगाध भद्रा उनके हृदय में हिलोरें लेती थी। जब उन्हें कोई प्रश्न करता तो सीधा कहते हैं—“भीखणजी से पूछें, जो वे कहें वही ठीक है।” उन्हें अभिमान तो छू तक नहीं गया था। जब कोई पूछता कि आप किस टोले के हैं तो बृद्ध होने पर भी निसंकोच सीधा उत्तर देते—“हम आचार्य भीखणजीके टोले के हैं।” एक बार दोनों सब कोटे पधारे। वहाँ पहुँचते ही उन्हें मालूम हुआ कि कौटा नरक्ष दशम के लिए वहाँ आ रहे हैं। जब इन साधुओं को यह बात मालूम हुई तो उसी समय वहाँ से बिहार कर दिया! बोले—“हममें क्या विशेषता है? आचार्य भीखणजी के दर्शन करें।” आचार्य रुघनाथजी के सम्प्रदाय में धिरपालजी और फतेहचन्दजी दोनों ही संत भीखणजी से दीक्षा-पर्याय में बड़े थे। अतः मई दीक्षा के बाद आचार्य हो जाने पर भी दीक्षा में इन दोनों संतों को ही अपने से बढ़ा सकता। इस तरह उनका बहुमान कर आचार्य भीखणजी ने अपने उच्च मानस का परिचय दिया और बृद्ध संतों के प्रति आदर बुद्धि का एक जीता-जागता उदाहरण छोड़ दिया।

जिन-मार्ग के उद्धार का कोई रास्ता न देय जब आचार्य भीखणजी ने कुछ निराश हो एतत् आत्म-चिन्तन और घोर तपस्या के मार्ग को अपनाया तो इन संतों के मनमें भी ब्रह्मदेव के से ही विचार आये। वे दोनों हाथ जोड़ कर विनय



पूर्वक निवेदन करने लगे : “आप तपस्या द्वारा अपने शरीर को इस तरह क्षीण न करें। तपस्या के लिए तो हम बहुत हैं। आपके हाथों बहुत लोगों का कल्याण होना बर्बा है। आपकी उत्पाद-बुद्धि बड़ी विचक्षण है। आपमें समझाने की बड़ी कला है। अपने कल्याण के साथ आप दूसरों के कल्याण का भी पूरा सामर्थ्य रखते हैं। आप को तपस्या छोड़, जनता में धर्म प्रचार करने का प्रयत्न कर जिन-शासन का उद्धार करना चाहिए।” सरल हृदय से निकली हुई यह अन्तर पुकार आचार्य भीखणजी के हृदय पर असर कर गई। वयोवृद्ध साधुओंकी सन् परामर्ग को स्वीकार कर आचार्य भीखणजी सिद्धान्त-प्रचार के कार्य पर भी विशेष ध्यान देने लगे। उनके धर्म प्रचार और धर्मोद्धारक जीवन का सूत्र पात यहाँ से समझना चाहिए। साधु थिरपालजी और फतेहचन्दजी ने आचार्य भीखणजी को जो प्रेरणा दी, वह कोई अलौकिक प्रेरणा थी जो उनके ब्रह्म से निकली होगी। इस प्रेरणा को ठेकर उन्होंने जगत् का जो हित साधा वह सुवर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

अब स्वामीजी धर्म-प्रचार के लिए अथाह परिश्रम करने लगे। सूर्य की रश्मियाँ जैसे अन्धकार को दूर करती हैं उसी तरह वे जनता की मूढ़ता और भ्रातियों को भगा, सच्चे जैन धर्म का प्रकाश करने लगे। सूत्रीय प्रमाण-पुरस्सर सिद्धान्त विषयक ढालें लिख-लिख कर वे जनता को समझाने लगे।

उन्होंने ज्ञान और दया पर तर्कावाहित और प्रमाण पुरस्सर सुन्दर ढालें लिखीं। ऋत-अप्रतके रहस्यको समझाया। नव तर्कों पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। श्रावकके ऋतों पर नया प्रकाश डाला। ब्रह्मचर्य के विषय पर महत्वपूर्ण ढालोंकी रचना की। इस प्रकार उन्होंने जनताके सामने अपनी सारी विचार धारा उपस्थित कर दी। साधु आचार पर ढालें रचकर शिथिलाचार को हटानेका प्रयत्न किया। अपने तथा अपने साधुओंमें सच्चे जैनत्व को उतार कर जनताके सम्मुख सच्चे जैन साधुत्वका मूर्तिमान स्वरूप उपस्थित कर दिया।

## —चतुर्विध-संघ—

आचार्य भीखणजीके इस तरह अथक परिश्रम से धीरे धीरे उनके सिद्धान्तोंका प्रचार होने लगा। साधु, भ्रातृक और श्राविकाओं की संख्या बढ़ने लगी। पर कई वर्षों तक संघमें साध्वियां न हुईं। इस पर किसीने आक्षेप करते हुए कहा—  
 “स्वामीजी ! आपके केवल तीन ही तीर्थ हैं—साधु, भ्रातृक और श्राविका : साध्वियां न होनेसे आपका यह तीर्थ रूपी मोदक खांडा— अपूर्ण ही है।” स्वामीजीने उत्तर दिया—  
 “मोदक खांडा मले ही हो पर है वह चौणुनी चीनीका। अतः स्वादमें अतुल्य है।”  
 यह उत्तर देकर स्वामीजीने बतला दिया कि मोदक चाहे पूरा ही पर अगर चीनी उसमें न रहे तो वह स्वाद रहित होगा। उसी तरह संघ में साधु, साध्वी, भ्रातृक श्राविका चारों ही हां पर सच्चे चारित्रिका अभाव हो तो वह संघ नाम मात्रका ही संघ होगा। संघ चतुर्विध न होने पर भी यदि उसमें शुणु, चारित्रिकान आत्म्यायें हैं, सो वह ही वास्तवमें सच्चा संघ है।

इसके थोड़े दिन बाद हो आचार्य भीखणजीके संघमें तीन साध्वियां भी हो गईं उनकी प्रमत्तताकी कया बड़ी भोज पूरा है।

एक ही साथ तीन महिलायें आचार्य महाराज से दीक्षा का अनुमति करने लगीं। जैनसूत्रोंके अनुसार कम से कम तीन साध्वियां एक साथ रहनी आवश्यक हैं। आचार्य महाराज ने विचार किया— यदि प्रमत्तता लेनेके पश्चात् इनमेंसे यदि एकका भी किसी कारणसे वियोग हुआ तो एक कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो जायेगी। उस अवस्था में बाकी दो साध्वियोंके लिये सल्लेपण करनेके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जायेगा। अतः इस आगेकी बातको सोच समझ कर ही कार्य करना चाहिये।” यह विचार कर उन्होंने सारी बात दीक्षाधीन बाधियोंके सम्मुख रख दी और दीक्षा लेनेके पूरा इस बात पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर लेनेको कहा। तीनों ही बाध्यां ने इस बात पर विचार कर जवाब दिया—“अगर हममें से किसीका भी वियोग हुआ तो दोष सल्लेपण कर शरीर विसर्जन करनेके लिये प्रस्तुत हैं।” आचार्य महाराजको

उनके वैराग्य पर तो पहले से ही विश्वास था। अब उनकी दृढ़ता की भी जांच कर ली। बाइयोंके वीरोचित उत्तरसे आचार्य महाराज प्रसन्न हुए। योग्य समझ दीक्षा दी। इन साधियोंके नाम श्री कुशलाँजी, मटुजी और अजयुजी थे।

इस तरह अपने संघमें कमजोरीको जरा-सा भी स्थान न पाने देते हुए और शिथिल-आचारको विलकुल दूर करते हुए आचार्य भीखणजी निरन्तर जागरूकता और परम विवेकके साथ अपने मार्गको अग्रसर करते जा रहे थे। माता दीर्पाबाईके ये ओजस्वी पुत्र एक केशरी सिंहके से प्रबल पुरुषार्थका परिचय देते हुए जिन-शासन को दिनों-दिन उद्दीप्त करते जा रहे थे। साधु-साधियोंकी संख्या खूब बढ़े, इसकी ओर उनका जरा भी ध्यान न था। वे तो केवल यह चाहते थे कि साधु-साधियाँ चाहे कम ही हों पर जो हों वे चौगुनी चीनीके हों—अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तपमय जीवन का ज्वलन्त उदाहरण जनता के सामने उपस्थित कर सकें और मौका आवे तो जिन-शासनके उद्धार कार्यमें अपने प्राणोंको न्यौछावर करने में भी कोई मोह न रखें—ऐसे हों। स्वामीजी वीर भगवान के प्रवचनोंको ही अपने जीवनका दिशा-यन्त्र बना चुके थे। उनका एक भी क्रिया-कलाप ऐसा न होता जो इस दिशा-यन्त्रसे निर्दिष्ट न हो। उनका विवेक हृद दर्जेका था। उनके प्रत्येक कार्य में चकित करनेवाली दूरदर्शिता होती। वे बड़े अग्रसोची थे और उनकी हार्दिक कामना थी कि वे जिन-शासन रूपी वृक्ष को इतना गहरा सींच सकें और उसकी जड़ पातालमें रोप सकें जिससे कि वह सतत् आँधी और तूफानके भौकों को भी अडिगता पूर्वक सह सके। उनकी आत्मा ऐसे ही भावों से ओत-प्रोत थी और इसी कारणसे वे एक बहुत उच्च जैन साधु जीवनका आदर्श युग-युग के लिये छोड़ सके और यही कारण है कि आज उनका वह संघ एक नन्दनवन की तरह लहलहाकर शोभा पा रहा है। वास्तवमें ही आचार्य भीखणजी जिन-शासनके भौमिया पुरुष थे। धीरे-धीरे उनका यश दिग्दिगन्त में फैल गया और इसके साथ ही साथ श्रावक श्राविकाओं की संख्या भी बढ़ने लगी।

## महा प्रस्थान

### —अदृष्टका आभास और अन्तिम उपदेश—

सं १८५९ की सालमें स्वामीजीने पालीमें चातुर्मास किया। वहाँसे विहार कर चाणोदसे पीपाड़ तक के गाँवोंको अपने चरणोंसे पवित्र करते हुए स्वामीजी सोजत पहुँचे। वहाँ बाजारमें छत्रियोंमें ठहरे। चातुर्मासकी समाप्ति पर भिन्न २ स्थानोंसे विहार कर संत स्वामीजी के दर्शन के लिये सोजत पधारे। स्वामीजी ने यहाँ सर्वोंके आगामी चौमासे फरमाए। हुक्मचन्द नामक एक भावकने स्वामीजीको शिरियारीमें चौमासा करनेकी अज्ञ की। स्वामीजीने अज्ञ मजूर की। स्वामीजीने ( १ ) भारीमालजी, ( २ ) खेतसीजी, ( ३ ) इंदैरामजी, ( ४ ) ऋषि रामचन्द्रजी ( ५ ) जीबोंजी और ( ६ ) भगजी इन छः संतोंको साथमें रखवा। स्वामीजी आदि ये सब ऋषि कैंटालिया और बगड़ी होते हुए शिरियारी पधारे। स्वामीजी का यह सं० १८६० का चातुर्मास ही अन्तिम चातुर्मास था। इसी सालकी भाद्र शुक्ल त्रयोदशी को स्वामीजीका दहान्त हुआ। अन्त समय तक स्वामीजीके हृद रजें की आत्म-जागरकता और आत्म-समाधि रही। यों तो उनकी भावनाएँ सदा ही निमल रहती थीं, परन्तु अन्त समयमें उनकी निर्मलता और उच्चता परम दशककी वस्तु थी। उन्होंने मृत्युको बड़ी प्रसन्नता पूर्वक भेला था। अन्तिम समयकी उनकी निर्भीकता, दृढ़ता, आत्म-जागृति और सहजानन्द को दखत हुए उन्हें मृत्युजय कहा जाय तो कोई आतिशयोक्ति नहीं होगी। वे एक बीरकी तरह जीये और उनकी मृत्यु भी बीर-रस से परिपूर्ण थी।

स्वामीजी शिरियारीमें पधारे उस समय तक उनके शरीरमें कोई रोग नहीं था। इद हो चुकने पर भी उनकी सारी इंद्रियाँ बलवान और कार्यकारी थीं।

उन्हें स्थिरवास करनेकी जरूरत नहीं हुई। उनका उपयोग बड़ा तीव्र था। उनकी चाल वृद्धावस्थामें भी तेज थी। वे बड़ा परिश्रम किया करते थे, यहाँ तक कि रोज स्वयं गोचरी पधारा करते और शिष्योंको लिख-लिख कर स्वयं 'आवश्यक मूत्र' का अर्थ बताया करते। उस समय तक वे धार्मिक चर्चामें विशेष रस लेते थे।

श्रावण सुदी १५ के बाद से स्वामीजीको साधारण दस्तकी शिकायत रहने लगी। दवा-सेवन से कोई लाभ नहीं हुआ। पर्युपण पर्व के दिन आए। बीमारी की हालतमें भी वे तीनों वक्त—सुबह, मध्याह्न और रात्रिमें धार्मिक उपदेस और व्याख्यान दिया करते, खुद गोचरी जाते और शौच भी बाहर जाना जारी रक्खा। बीमारी कोई खतरनाक नहीं दिखती थी और न किसीने इसे भयानक समझा। भाद्र शुक्ल ४ की रात है। स्वामीजीको ऐसा लगा जैसे उनका शरीर ढीला पड़ गया हो। उन्हें अपनी आयु नजदीक मालूम देने लगी। उन्होंने खेतसीजी से कहा :—  
“तुम, भारीमाल और टोकरजी बड़े सुविनीत शिष्य हो। तुम लोगोंने मेरी बड़ी भक्ति की। तुम लोगोंके कारणसे मुझे बड़ी समाधि रही और शांत चित्त से सयम पालन करनेमें बड़ा सहारा रहा।” इस प्रकार अपने गुणवान शिष्यों की प्रशंसा कर स्वामीजीने श्रावक, श्राविकाओं के सामने ही ऋषि भारीमालजी आदि सतोंको बड़ा मार्मिक उपदेस दिया, जिसका मार इस प्रकार है :

“१—जिस तरह तुम लोग मुझे बहुमान देते रहे और मेरे प्रति तुम लोगों की प्रतीति थी, वैसे ही ऋषि भारीमालके प्रति रखना।

२—शिष्य भारीमाल सर्व सन्त सतियोंका नाथ है, उसको आचार्य मान सब कोई उसकी आज्ञा को आराधना करना। उसकी आज्ञा या मर्यादाका भङ्ग मत करना।

३—ऋषि भारीमालको आज्ञाको लौपकर—उल्लंघन कर, जो गण बाहर होजाय उसे साधु मत समझना, जो उसकी आज्ञाको शिरोधार्य करे और उसके प्रति सदा सुविनीत रहे, उसकी सेवा करना। यह जिन-मार्ग की रीति है।

४—ऋषि भारीमालको भार-लायक समझ कर ही आचार्य पदवी दी है और गण का भार सौंपा है। इसकी प्रकृति बड़ी भद्र, शुद्ध और निर्मल है। उसमें शुद्ध साधुकी चाल है और वह शुद्ध समय पालनका करमी है। इसमें शका को कोई स्थान नहीं है।

५—शुद्ध—सदाचारी साधुओं की सेवा करना; अनाचारियोंसे दूर रहना जो, कम-सयोगसे अरिहन्त भगवान और गुरु-आज्ञा का लोप करें—उन अपछन्दी—स्वच्छाचारियोंको वन्दना योग्य मत समझना।

६—भगवानकी आज्ञाको लोप कर चलनेवालों—उसर्त्ता, पासर्त्थों, कुशीलियों, प्रमादी और अपछ्दोंकी संगति मत करना। जिन भगवानने उपासकरुद्वाज्ञ में इनकी संगतिका निषेध किया है। आनन्द भावक के अभिप्रह के परमार्थको समझ कर इस बातका पालन करना। साधु, साध्वी, भावक और भाविकाएँ सबको इनकी संगतिसे दूर रहना चाहिये। जिन भगवानकी आज्ञाके पालन से परम स्रष्ट मिलता है और संसारका अन्त होता है।

७—सन्त-सती, सब परस्परमें विशेष प्रीति-भाव रखना। एक दूसरेके प्रति राग-द्वेष मत करना और न कभी दलबन्दी करना। आज्ञा लोप कर दलबन्दी करनेवाला अविनयी एकलविहारीसे भी दुरा है।

८—दिल देख-देख कर दीक्षा देना और ऐरे-गैरे हर किसीको मत भुँडना।

९—सुशकी कोई बात समझन न आये तो उसे लेकर र्थिचातान मत करना, मनमें सन्तोष और धैर्य रखकर उसे केवलियोंको भोला देना—उन पर छोड़ देना।

१०—किसी बोल ( बात ) की स्थापना गुरुकी आज्ञा बिना स्वच्छन्द मतसे नहीं करना।

११—एक, दो, तीन,—कितने ही गणसे क्यों न निकल जाय, उनकी परवाह न करना। उन्हें साधु मत समझना और शुद्धतासे साधु-आचारका पालन करते जाना।

१२—सब एक गुस्की आज्ञा में चलना; इस परम्परा मर्यादा—रीतिको सदा निभाना । आगे जो लिखत हैं, उन्हें बराबर पालन करना ।

१३—कोई साधु दोष-सेवन कर झूठ बोले और प्रायश्चित्त न ले तो उसे गणसे दूर-वहिष्कृत कर देना ।” \*

\* स्वामीजीका उपरोक्त उपदेश, कई विचारक बन्धुओं का कहना है कि विचार-स्वातन्त्र्य का गला घोटता है । स्वामीजीके उपरोक्त बोध में से नं० २, ३ और ९ को ही उद्धृत कर उस पर टिप्पणी करते हुए ‘ओसवाल नवयुवक’ के विद्वान सम्पादक श्री भँवरमलजी सिंघी ने इसी मासिक पत्रके ९ वें वर्षके ८ वें अङ्कमें लिखा था :

“अदि उक्त आचार्य के इन उपदेशोको ध्यानमें रखकर हम उनके सम्प्रदाय-विच्छेद के कार्यको देखें तो वे स्वयं अपने उपदेशोंसे गुस्की आज्ञाको उलङ्घन करनेवाले अविनयी सिद्ध होते हैं । उन्होंने ही अपनी शक्का को खींचातान के बदले क्यों नहीं केवलीको सौंप दिया ? लेकिन नहीं, जडता तो सम्प्रदायिकताके साथ रहनेवाला अनिवार्य पाप है । वास्तवमें जो उक्त आचार्य ने किया वह उनकी आत्माके बलका परिचायक था, पर जो उपदेश दिया वह निर्बलता, साम्प्रदायिकता और जिन-मार्ग विपरीतता थी । जिस भी आचार्य ने ऐसा किया है और लगभग सभी सम्प्रदायाचार्यों ने ऐसा किया है—वे सभी दोष के भागी हैं ।”

परन्तु गम्भीरता पूर्वक देखने से पता चलेगा कि उपरोक्त उद् सोच-विचार कर प्रकट नहीं किए गए हैं, उनके पीछे जैन-धर्मके विचार सम्बन्धी गहरा अज्ञान रहा हुआ है । जैन शास्त्रोंमें —जगह विनय करनेकी बात आई है । “जिस तरह अग्निहोत्री करनेमें सावधान रहता है, उसी तरह शिष्यको अपने

४—कृपि भारीमालको भार-लायक समझ कर ही आचार्य पदवी दी है और गण का भार सौंपा है। इसकी प्रकृति बही मद्र, शुद्ध और निर्मल है। उसमें शुद्ध साधुकी चाल है और वह शुद्ध समय पालनका कामी है। इसमें शका को काह ध्यान नहीं है।

५—शुद्ध—सदाचारी साधुओं की सेवा करना; अनाचारियोंसे दूर रहना; जो कम-संयोगसे अरिहृत भगवान और गुरु-आज्ञा का लोप करें—उन अपछन्दी—स्वच्छाचारियोंको वन्दना योग्य मत समझना।

६—भगवानकी आज्ञाको लोप कर चलनेवालों—उसर्त्ता, पासखों, कुशीलियों, प्रमादी और अपछन्दीकी सगति मत करना। जिन भगवानने उपासकशास्त्र में इनकी सगतिका निषेध किया है। आनन्द श्रावक के अभिग्रह के परमार्थको समझ कर इस बातका पालन करना। साधु, साध्वी, धावक और श्राविग्रह सबको इनकी सगतिसे दूर रहना चाहिये। जिन भगवानकी आज्ञाके पालन से परम सुख मिलता है और संसारका अन्त होता है।

७—सन्त-सती, सब परस्परमें विशेष प्रीति-भाव रखना। एक दूसरेके प्रति रग-द्वेष मत करना और न कमी दलबन्दी करना। आज्ञा लोप कर दलबन्दी करनेवाला अविनयी एकलविहारीसे भी गुरा है।

८—दिल देख-देख कर दीक्षा देना और एरे-गैरे हर किमीको मत मूँडना।

९—सूत्रकी कोई बात समझमें न आये तो उसे लेकर सींचातान मत करना, मनमें सन्तोष और धैर्य रखकर उसे केवलियोंको भोला देना—उन पर छोड़ देना।

१०—किसी बोल (बात) की स्थापना गुरुकी आज्ञा बिना स्वच्छन्द मतसे नहीं करना।

११—एक, दो, तीन,—कितने ही गणसे धर्मों न निकल जाय, उनको परवाद न करना। उन्हें साधु मत समझना और शुद्धतासे साधु-आचारका पालन करते जाना।



१२—सब एक गुल्की आज्ञा में चलना; इस परम्परा मर्यादा—रीतिको सदा निभाना । आगे जो लिखत हैं, उन्हें बराबर पालन करना ।

१३—कोई साधु दोष-सेवन कर झूठ बोले और प्रायश्चित न ले तो उसे गणसे दूर-बहिष्कृत कर देना ।” \*

\* स्वामीजीका उपरोक्त उपदेश, कई विचारक वन्द्युओं का कहना है कि विचार-स्वातन्त्र्य का गला घोटता है । स्वामीजीके उपरोक्त बोध में से नं० २, ३ और ९ को ही उद्धृत कर उस पर टिप्पणी करते हुए ‘ओसवाल नवयुवक’ के विद्वान सम्पादक श्री भँवरमलजी सिंघी ने इसी मासिक पत्रके ९ वें वर्षके ८ वें अङ्कमें लिखा था :

“अदि उक्त आचार्य के इन उपदेशोंको ध्यानमें रखकर हम उनके सम्प्रदाय-विच्छेद के कार्यको देखें तो वे स्वयं अपने उपदेशोंसे गुल्की आज्ञाको उलङ्घन करनेवाले अविनयी सिद्ध होते हैं । उन्होंने ही अपनी शङ्का को खींचातान के बदले क्यों नहीं केवलीको सौंप दिया ? लेकिन नहीं, जड़ता तो सम्प्रदायिकताके साथ रहनेवाला अनिवार्य पाप है । वास्तवमें जो उक्त आचार्य ने किया वह उनकी आत्माके बलका परिचायक था, पर जो उपदेश दिया वह निर्बलता, साम्प्रदायिकता और जिन-मार्ग विपरीतता थी । जिस भी आचार्य ने ऐसा किया है और लगभग सभी सम्प्रदायाचार्यों ने ऐसा किया है—वे सभी दोष के भागी हैं ।”

परन्तु गम्भीरता पूर्वक देखने से पता चलेगा कि उपरोक्त उद्गार विशेष सोच-विचार कर प्रकट नहीं किए गए हैं, उनके पीछे जैन-धर्मके आचार-विचार सम्बन्धी गहरा अज्ञान रहा हुआ है । जैन शास्त्रोंमें जगह-जगह गुल्के विनय करनेकी बात आई है । “जिस तरह अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्निकी शुश्रूषा करनेमें सावधान रहता है, उसी तरह शिष्यको अपने गुल्की सेवा करनेके

स्वामीजीकी यह चरम सीख—अन्तिम हित शिक्षा थी। इसमें उनके जीवन भरके अनुभव का सार है। अकस्मात् इस मार्मिक उपदेशको सुनकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। सन्तों के पूछने पर कि उनको क्या सचलीक है, स्वामीजी बोले “कोई तफ्तीफ नहीं। मेरा शरीर अब ढीला पड़ चुका है, मुझे परमव नजदीक दिखलाई दे रहा है—इसलिये यह सीख—अन्तिम शिक्षा दी है। मुझे मृत्युसे डरा भी भय नहीं

लिये सावधान रहना चाहिये। शिष्य गुरुकी आज्ञा अनुसार कार्य करे और गुरु का अपमान नहीं करे।” इस तरहके वाक्य जैन शास्त्रोंमें जगह-जगह आये हैं, परन्तु इन वाक्योंका उद्देश्य कुगुरुओंका विनय करते रहना चाहिये—यह नहीं है। उसी प्रकार स्वामीजी के बचनोंसे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि स्वामीजी ने उस विचार स्वतन्त्रताका गला घोंटा था जो स्वतन्त्रता भ्रष्टाचारी गुरुके प्रति बलवा करनेके लिये प्रेरित करे। स्वामीजीने एक आदर्श साधुसंस्थाको खड़ा किया था। भारीमाल्जुमें शुद्ध साधुकी चाल तथा आचार पालनकी नीति देखी थी, इसलिये उन्हें पूज्य मान कर उनकी आज्ञामें चलने का उपदेश दिया था—यह स्वामीजी के उन उपदेश वाक्योंसे प्रगट है, जो कि उद्धरणमें छोड़ दिये गए हैं और जिन पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। अपने उपदेशमें उन्होंने यह भी कहा था—“जो साधु लिये व्रताका पालन न करे—दोषका सेवन करे और मालूम पड़ जाने पर भी उसका यथोचित प्रायश्चित्त न ले तो बिना किसी प्रकार की रातिर कर उसे गण बाहर कर देना। स्वामीजीने श्रुति भारमाल्जुके लिये अलग नियम रर दिया था, यह कही नहीं मिलता। उनमें कोई दोष दिलाइ द तो भी अपेक्षा करते जानेका उन्होंने साधुओंको उपदेश नहीं दिया था। उन्होंने जगह-जगह कहा है—“जैन धर्ममं गुणोंकी पूजा है, वे मार्ग वृद्धते हैं जो निगुणोंकी पूजा करते हैं। सोनेकी छुरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई पेटमें नहीं मारता। उसी प्रकार पुत्र-परम्परगत गुरु भी यदि भ्रष्टाचारी हो और

है। मेरे हृदय में परमानन्द है। तुम लोगोंके सहयोगसे मुझे अपूर्व समाधि रही है। मैंने अनेक मुमुक्षु जीवोंके हृदयमें अमोल समकित रूपी बीज रोपा है। अनेकोंको मैंने वारह व्रत ग्रहण कराए हैं तथा अनेकोंको साधु प्रव्रज्यामें दीक्षित किया है। मैंने सूत्र और न्याय के अनुसार अनेक ढालें रची हैं। अब मेरे मनमें कोई बात नहीं रही।” यह कहकर स्वामीजीने फिर उपदेश दिया: “तुम लोगोंसे मेरा यही कहना है कि

कुगतिको पटुचानेवाला हो तो वह पूजनोय नहीं है।” स्वामीजीके ये वाक्य भी सबके लिये थे। अपने सम्प्रदायके, वादमें होने वाले, आचार्यों के सम्बन्धमें उन्होंने दूसरा नियम नहीं किया था। उनके सम्बन्धमें कोई छूट नहीं रखी थी। फिर उपरोक्त उद्गारोंको प्रगट करनेकी कोई भित्ति नहीं है। भावावेगमें आकर लेखकने एक बहुत बड़ा अन्याय कर डाला है। स्वामीजीने यह भी उपदेश दिया था कि दिल देख-देख कर दीक्षा देना, हर किसीको मत मुण्ड लेना। इसमें गुणों को प्रथम देखनेकी हिदायत की है, फिर वह कौनसी स्वतन्त्रता है जिसका स्वामोजो ने गला घोंटा था और जिसको लेकर यहाँ तक लिख दिया गया कि स्वामीजी का यह उपदेश जिन-मार्ग विपरीतता थी? दसवैकालिक सूत्र में लिखा है: “आदर्श साधु असंयमियों की सेवा नहीं करता, उनका अभिवादन नहीं करता, उनको वदन-नमस्कार नहीं करता, परन्तु वह असंयमी के सगसे मुक्त हो ऐसे आदर्श साधुओंके सघमें रहता है जिसमें कि उसके चारित्र की हानि न हो।” उपरोक्त उपदेश को देते समय स्वामीजी के सामने कठिन सयमी भगवान महावीर के उपरोक्त तथा सूत्रों में जगह-जगह आये ऐसे ही अन्य प्रवचन रहे होंगे। इन उपदेशों में एक बहुत बड़ा परमार्थ था। स्वामीजी अपने गण को आपात पवित्र समझते थे। शुद्ध जिन-शासन मूल रूप में चलता रहे, उसमें विकार न आय, इस दृष्टिसे ही उन्होंने उपरोक्त नियम किये थे। कोई भावावेश में आकर, उनमें गहरी साम्प्रदायिकता का भले ही दर्शन करे परन्तु वे केवल एक मात्र

रिच्य चित्त रखकर भगवानके मार्ग का अनुसरण करना, मुमति और कदाग्रह को दूर छोड़कर सदा आत्माको उज्ज्वल—निर्मल करना, झुझाचारकी धाराधनामें बाल मर भी मत चूकना, पाँच समिति, तीन गुप्ति और पाँच महाप्रत का पूर्ण सावधानीके साथ पालन करना, शिष्य-शिष्याओं तथा वस्त्र आदि वस्तुओं पर जरा भी मूर्च्छा भाव मत रखना, प्रमादको सदा दूर करना समयमें शुद्ध मनसे धनुरक रहना और पीढ़लिक आसक्तियोंको तन-मन से दूर करना ।

स्वामीजीका यह अन्तिम उपदेश कितना अनुपम है । वह आज भी स्वर्णश्ररो में अंकित करने योग्य है । स्वामीजीने यह जो अन्तिम अमृत घूँट पिलवाई, वह आप भी समूचे सघके तरुण बनाए हुए है । संघ-संचालनके कार्यमें यह अन्तिम दिक्षा निर्देश बड़ा ही उपयोगी और महत्वका सिद्ध हुआ है । स्वामीजी बड़े ही शानी, दूरदर्शी और विचक्षण पुण्य थे । इसीसे शासन एवं गणके हितके लिये वे ऐसा

इसी दृष्टि से दिये गए थे कि भगवान का शासन जयवन्ता रहे वह दिन-दिन प्रगति करता जाय ; गुणों की पूजा हो, निगुणों का सत्कार न हो । केवली को सौंप देने की बात भी व्यय के बित्तष्ठावाद को कम करने के गम्भीर हेतु से कही गई थी । स्वामीजी खुद ने सूत्रों के ऐसे बोलों को केवली पर छोड़ा था जिनका आशय स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता था । इसका आशय यह न था कि आचार विचार में शिथिलता आ जाय और सूत्रोंके वचना से यह प्रगट हो कि वास्तव में शिथिलआचार का सेवन किया जा रहा है तो भी अपनी शक्तियों को केवली को सौंप देना । स्वामीजी की परीक्षाओं का ऐसा अर्थ करना तो अनर्थ करना होगा, बुद्धि को साक पर रखना होगा । असम्भ्रम तो साफ और सीधा है और वह इतना ही है कि कोई ऐसा बोल हो जिसका अर्थ समझ में नहीं आता हो तो उसको लेकर सींचातान नहीं करनी चाहिए—व्यर्थ शब्दों के भगड़ों में न पड़ उसे केवली गम्भ समझ कर सन्तोष करना चाहिए ।

अमोलक उपदेश दे सके ।

इस उपदेशके बाद स्वामीजीने ऋषि रायचन्दजी को सम्बोधित कर कहा—  
“ब्रह्मचारी ! तुम बुद्धिमान बालक हो, मोह मत करना ।” ऋषिने जवाब दिया: “आप तो अपने मनुष्य जन्मको सार्थक कर रहे हैं, फिर मैं मोह क्यों करने लगा ?”

ऋषि भारीमालजी पासमें ही बैठे हुए थे । वे स्वामीजी से बोले : “आपके पास रहनेसे मनमें हमेशा हिम्मत रहती थी । अब विरहके दिन आ रहे हैं । यह सहन करना कितना कठिन है—यह भगवान ही जानते हैं ।” स्वामीजी बोले: “तुम निर्मल चित्तसे निर्दोष सयमका पालन कर मनुष्य-भवको सार्थक कर, देव बनोगे ।”

### —आत्म-निरीक्षण और आत्म-शोधन—

इसके बाद में स्वामीजीने तीव्र आत्म-आलोचना की तथा जान-अजानमें कोई पाप हुआ हो तो उसके लिये “मिच्छा मि दुक्कड” किया । चन्द्रभाणजी, तिलोकचन्द जी आदि जो गण बाहर हो गये थे, उनके नाम ले-लेकर ‘क्षमा-क्षमापना’ किया । कहनेका तात्पर्य यह है कि उन्होंने निर्मल चित्त से तलस्पर्शी आत्म-निरीक्षण कर अघ परिहार द्वारा जीवन शुद्धि की । स्वामीजी की इस आत्म-आलोचना का सार श्रीमद् जयाचार्य ने “भिक्षु जश रसायन” नामक ग्रंथमें दिया है । इसके पढ़नेसे परम शान्ति और स्वर्गीय आत्मानन्द मिलता है । इस आलोचना के सम्बन्ध में उपरोक्त आचार्य लिखते हैं : “ऐसी आलोचना के कान में पढ़ने से ही अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न होता है और जो ऐसी आलोचना करता है, उसका तो कहना ही क्या ? उसके बड़े भाग्य हैं ।”

### —अनशन —

यह चौथ की बात है । भाद्र शुक्ला पचमी—‘सम्बत्सरी’ के दिन स्वामीजी ने चौआहार शुन्य उपवास किया । तृषा—प्याससे बड़ी असाता — तकलीफ हुई, परन्तु

स्वामीजी ने बड़े समचित्त से उसे सहन किया। छठके दिन बहुत थोड़े आहारसे पारणा किया और औषध भी ली परन्तु तुरन्त ही धमन हो गया। स्वामीजी ने उस दिन के लिए तीन आहार का त्याग कर दिया। सप्तमी तथा अष्टमी को भी अल्प आहार लेकर त्याग कर दिया। खेतसीजी ने इस तरह त्याग न करने के लिए आप्रह किया, परन्तु स्वामीजी ने कहा 'अब देह से क्या मोह है ? अब तो उसे क्षीण करते हुए वैराग्य बढ़ाना चाहिए।' ९ मीं तथा १० मीं को स्वामीजीने आजीवन आहार त्याग की बात चलाइ, परन्तु खेतसीजी तथा भारीमालजी के अनुरोध से थोड़ा आहार चखा और फिर तुरन्त आहार का त्याग कर दिया। एकादशी के दिन अफीम और जलके सिवा सब आहार का त्याग कर दिया और बोले "आज से आहार लेने का विचार नहीं।" बारस के दिन बेला किया। इस प्रकार शरीर की ममता न करते हुए तथा पौद्गलिक सुखोंको हुकराते हुए स्वामीजी 'संयारे'—देह विसर्जन—की तैयारी करने लगे। वे बड़े सजग रहते और उनके हृदयमें अपूर्व वैराग्य था। इधर शरीर—पौद्गलिक—शक्ति क्षीण पड़ती जा रही थी और उधर उनकी आत्मा अधिकाधिक दृढ़ हाती जा रही थी। शरीर-शक्ति और आत्म-शक्ति में फटोर द्वन्द्व हो रहा था। स्वामीजी बड़े प्रसन्न चित्त थे। उनकी भावनाएँ बड़ी निमल थीं। वे देह का सार खींच चुके थे। अब वह उनके लिए असार बस्तु थी। जब तक देह जीवन जीने में सहायभूत थी, वे उसका अनाशक्ति पूर्वक पालन करते रहे, जब देह जीवन जीने में सहायभूत होती नहीं मालूम दी, तो वे अनाशक्ति पूर्वक उसके विसर्जन के लिए मग्न हुए। वे अनूठे योगी थे। मृत्यु को वे एक दैवी सम्पत् की तरह धरन करने की प्रस्तुत थे। उन्होंने जो कुछ किया, वह आत्म साक्षी पूर्वक भगवान के बचनों को सामने रख कर, इसीलिए पत्रके सम्बन्ध में उन्हें जरा भी शंका न थी और वे इसने निश्चित थे। भीत का उन्हें जरा भी भय न था।

## —आजी आहार-परित्याग—

सोमवार, भाद्र शुक्ला चारस का दिन आया। स्वामीजी कच्ची हाट से चलकर सामने वाली पक्की हाट में आए। शिष्यों ने विछौना किया और स्वामीजी शान्ति से विश्राम करने लगे। इस तरह विश्राम करते हुए कुछ ही देर हुई होगी कि ऋषि रायचन्दजी, स्वामीजी के पास आकर बोले : “स्वामीनाथ ! कृपा कर दर्शन दीजिए।” “स्वामीजी ने यह सुन नेत्र खोले और ऋषि की ओर देखते हुए उनके मस्तक पर अपना हाथ रखा। बुद्धिमान बालक सत रायचन्दजी, स्वामीजी की हालत देख कर उनसे बोले: “स्वामीनाथ ! आपके पराक्रम क्षीण पड़ रहे हैं।” यह बात सुनते ही स्वामीजी चौंक बैठे जैसे कोई सोया हुआ सिंह जगा हो। अपने शरीर की सारी शक्ति बटोर कर वे उठ बैठे। पुद्गलों के साथ यह कैसा तुमुल युद्ध था ! कैसी चमत्कार पूर्ण आत्म-जागृति और आत्म-साधना थी ! स्वामीजी ने उसी समय ऋषि भारीमालजी और खेतसीजी को अपने पास बुलाया। याद करते ही दोनों सत उपस्थित हुए। उनके पहुँचते ही अरिहन्त और सिद्ध भगवान को ‘नमोऽस्तु’ कर श्रावक-श्राविकाओं के सन्मुख उच्च स्वरसे यावज्जीवन तीन आहार का त्याग कर तीव्र वैराग्य भाव से ‘सथारा’ कर दिया। सतों ने कहा : “अफीम का आगार क्यों नहीं रख लिया ?” स्वामीजी ने जवाब दिया—“अव आगार किस लिए ? अव शरीर की क्या सार करनी है ?”

जिस समय स्वामीजी ने ‘सथारा’ ग्रहण किया उस समय करीब दौघड़ी दिन था। हवा की तरह यह बात चारों ओर फैल गई। लोग चारों ओर से दर्शन के लिए जुटने लगे। नर-नारियों की इतनी भीड़ हुई कि बाजार में समानी कठिन हो गई। जो जन्म भर द्वेषी रहे, वे भी आश्चर्यचकित हो गए और अव उनकी समझमें आया कि यह मार्ग कितना खरा—सच्चा है।

“कई धर्म तणा द्वेषी हुंता हो, ते पिण अचरज पाय्या तिणवार।

अनमी कई आवी नम्य हो, स्वाम तणे सन्थार ॥”

‘स्वामीजीके इस संधारेमें वे भी उनके चरणोंमें आकर झुक गये, जिन्होंने पहले नमस्कार करना तो दूर रहा, कभी उन्हें सद्भावनासे देखा तक न था।’

स्वामीजीने बड़ों-बड़ोंसे बाजी लगा दी। ‘सन्धार’ पचक्ख बड़े भारी मनोबल का परिचय दिया। धन्य है स्वामीजी को धीरता ! धन्य है उनका निमल ध्यान ॥ धन्य है उनको शूर धीरता ॥॥ और धन्य है उनकी मेरुके समान दृढ़ता ॥॥॥

कुंड के-कुंड लोग आकर परम हर्षके साथ स्वामीजीके दर्शन कर क्षमा-क्षमापना करने लगे। लोगोंने नाना प्रकारके पचक्खण-स्याग किये। किसीने स्वामीजीका संधारा पूरा न हो तब तक के लिये कच्चा जल छोड़ा, किसीने ब्रह्मचर्य का नियम लिया, किसीने अग्नि सिलमाने का स्याग किया, किसीने हरी खाने का किसीने रात्रि भोजनका। इस तरह लोग धर्म-ध्यानकी ओर चित्त देकर स्वामीजीके प्रति अपनी श्रद्धाजलियाँ चढ़ाने लगे।

सन्धार के बाद सन्धा समय स्वामीजीने ‘प्रतिक्रमण’ किया और बादमें रात्रिमें ऋषि भारीमालजीसे बोले: “व्याख्यान दो।” एक ओर स्वामीजी का ‘सन्धार’ और दूसरी ओर व्याख्यान देनेकी आज्ञा। ऐसी परिस्थितिमें व्याख्यान देना बहुत बड़े धैर्यको समेटना था। वह कोई सहज बात न थी। ऋषि भारीमालजी बोले- “स्वामीनाथ ! आपके ‘सन्धार’ में हमारे व्याख्यानकी क्या विशेषता ?” स्वामीजी बोले: “कोई साधु ‘सन्धार’ करती है तो उसके पास जाकर धर्मोपदेश किया जाता है, फिर हमारे ‘संधारे’ में धर्मोपदेश क्यों नहीं देते ?” गुरुने शिष्यसे धर्मोपदेश सुनना चाहा और उसके लिये कितना आग्रह दिखाया ! जब शरीर-शक्ति क्षीण होने लगती है तो आत्माभी पुरुष दूसरोंके सहारेसे अपनेको चेतन रखनेकी चेष्टा करता है। स्वामीजी अपने संधारेमें अपने शिष्यसे धर्मोपदेश सुनकर धर्म-ध्यानमें अपनेको लीन कर लेना चाहते थे। निरोप आपहके कारण भारीमालजीको व्याख्यान देना पड़ा। स्वामीजी ने उभे बड़े ध्यानसे मनोयोग पूर्णक सुना।



## —अन्तिम दिन—

वारसकी रात बीती और तेरसका पावन दिन उदय हुआ। आस-पासके गाँवों से आ-आकर इतने लोग एकत्रित हो गये, जैसे कोई बड़ा मेला लगा हो। लोगोंके हृदय हर्षसे भरे हुए थे। सबके चेहरों पर परमानन्द था। स्वामीजीके दर्शन कर लोग तन-मनसे हर्षित हो रहे थे और उनके गुणगाण करते हुए कह रहे थे, 'आप धन्य है। आप जिन-मार्ग के धोरी हैं। आपने जिस उमङ्ग और उत्साहसे शुद्ध मार्ग ग्रहण किया, उसी उत्साह और उमङ्गसे आपने उसे आजीवन उज्वलित किया है। आपकी शूर वीरता धन्य है और धन्य है आपका पराक्रम।'

सुबह प्रायः पहर दिन चढा होगा, स्वामीजीने कुछ जल ग्रहण किया और ध्यानस्थ हो गये। इस समय एक आश्चर्यकारी घटना घटी। करीब १॥ पहर दिन चढा होगा। स्वामीजी बोले: 'साधु और साध्वियाँ आरही हैं, उनके सामने जाओ।' कइयों ने समझा स्वामीजीका ध्यान साधुओं में लगा हुआ है, इसीलिये ऐसा कह रहे हैं। परन्तु ऐसा कहनेके करीब एक मुहूर्त बाद कई साधु आ पहुँचे जो तृपासे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे और फिर एक मुहूर्त बाद साध्वियाँ भी पहुँचीं। लोगोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। स्वामीजीने यह बात कैसे कही, यह कोई नहीं सका। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए श्रीमद् जयाचार्य लिखते हैं कि स्वामीजी ने यह बात अटकल-अन्दाजसे कही थी या उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ था, यह निश्चय तो केवली ही जाने परतु उनको कही हुई बात अवश्य मिली। आये हुए साधु-साध्वियों ने स्वामीजी को वदन-नमस्कार किया। स्वामीजीने वदना स्वीकार सतोंके मस्तक पर हाथ रक्खा।

स्वामीजीको लेटे हुए बहुत ढेर हो चुकी थी। सतोंने उनकी इच्छासे उन्हें बिठाया। स्वामीजी ध्यानासनमें बैठे। उस समय उनके कोई तकलीफ नहीं मलाम देती थी, शरीर निरोगसा लगता था। दर्जी वैकुण्ठी सीनेके लिये आये।

## जीवन सम्बन्धी आस्-खास तें

### —महत्वपूर्ण वर्ष—

- ( १ ) जन्म सम्बत् : १७८३
- ( २ ) प्रथम दीक्षा सम्बत् : १८०८
- ( ३ ) बोध-प्राप्ति सम्बत् : १८१५
- ( ४ ) नई दीक्षा सम्बत् : १८१७

### —महत्व पूर्ण स्थान—

- ( १ ) जन्म स्थान : कंटालिया ग्राम
- ( २ ) प्रथम दीक्षा : बगड़ी
- ( ३ ) बोध-प्राप्ति स्थान : राजनगर
- ( ३ ) नई दीक्षा : केलवा
- ( ४ ) चर्म कल्याण : शिरियारी

### —आयुष्य का व्यौरा—

- ( १ ) घर में : २५ वर्ष
- ( २ ) आचार्य रुघनाथजी के साथ : ८ वर्ष
- ( ३ ) तेरापंथी सम्प्रदाय के नायक रूपमें : ४४ वर्ष
- ( ४ ) देहावसान ७७ वर्ष की अवस्था में

### — आ और शरीर—

स्वामीजीका शरीर दीर्घ बलवान था । उनकी आंखें विशाल और तेजस्वी थी ।

अंशमिं खून को छाली दिखाई देनी ओर उनसे एक स्वाभाविक प्रकाश प्रकट होता।  
उनका वण श्याम था। चेहरा सुहोल और सुहावना था। मुख मुद्रा बड़ी हो सौम्य  
और शरीर निमल था। उनकी चाल फुरतीली थी और अन्त समय तक बह बैसी ही रही।

स्वामीजी की बागों में मधुरता, प्रभाव और चुम्बक का सा आकर्षण था। शब्दों  
में समुद्र का सा गुंजारव था। शब्द घोष उठव और गंभीर था। वचनों में अमृत  
सिद्धि और चमत्कार था। उनके शरीर चिन्हों के विषयमें एक दोहा 'शासन विलास'  
नामक ग्रन्थ में मिलता है, जिसे हम नीचे देते हैं—

श्री भिक्षुना पग जीमणा में उर्द रेखा जाणियै  
जीमणा हाये भरछ रेखा मच्छाकार बयाणियै  
बलि जीवणा कर पास पठँच तीन रेखा मणिवधरी  
द्वय हस्त भी दश आंगुलीयै दशो चक्र अछै वरी ॥ १ ॥  
नाइ (भीवा) तेह में त्रय रेख लाम्बी ही सही  
ललाट में पिण तीन रेख जु लांबी ते बहु शुभ कही  
द्वय ऊपर केश जाके पेट पर रेखा त्रयो  
बलि पेट ऊपर सुँही पासे स्वस्तिका आकार ही ॥ २ ॥  
पुन पेट ऊपर धजा को आकार लिखियो आख ही  
तस पल बरस द्वय सहस परिमित नाम जग विख्यात ही  
इत्यादि शुभ लक्षण घणां श्री भिक्षुना तनना लिख्या  
देखिने अनुसार तेहने इहां पिण तिमहिज अरया ॥ ३ ॥

### —जन्म-कुण्डली—

'शासन विलास' में स्वामीजी को कुण्डली निम्नलिखित गायत्रियों में  
मिलती है—

मीन लग्न लग्ने तम गुरु रे तृतीय मृग पचम रवि शुभ मु०  
मीम छठे गिती लग में रे लाल दशम चन्द्र एकादशम शनि शुद्ध ॥

मूल ध्रुव्य त्रय्य पाद में रे दृश्यो सहै परिवार सु०  
भीखण नाम दियो भलो रे लाल कर उत्सव बिस्तार ॥ १५ ॥

### —प्रचार क्षेत्र—

स्वामीजी की दीक्षा-पर्याय वाचन वर्ष जितनी लम्बी थी। स्वामीजी ने कुल ५१ चौमासे किये। ८ चौमासे आचार्य रुवनाथजी के पास रहते हुए किये। अवशेष ४३ चौमासे नई दांक्षा के बाद शुद्ध समय में बिताये, जिनका व्यौरा इस प्रकार है :—

स्थान:	चौमासों की संख्या:	सम्यत्:
१—कैलवा	६	१८१७, २१, २५, ३८, ४९, ५८
२—वरलू	१	१८१८
३—राजनगर	१	१८२०
४—कंटालिया.	२	१८२४, २८
५—वगड़ी	३	१८२७, ३०, ३६
६—माधोपुर (गढ़ रिणत भावर मी तलेटी)	२	१८३१, ४८
७—पीपाड़	२	१८३४, ४५
८—आमेट	१	१८३५
९—पाटु	१	१८३७
१०—सोजत	१	१८५३
११—श्रीजीद्वार	३	१८४३, ५०, ५६
१२—पुर	२	१८४७, ५७
१३—खेरवा	५	१८२६, ३२, ४१, ४६, ५४
१४—पाली	७	१८२३, ३३, ४०, ४४, ५२, ५५, ५९

मारवाड़ मेवाड़ दुंदाह और हाडोती ये चार देश ही स्वामीजी के धर्म प्रचार के क्षेत्र रहें। स्वामीजी एकद्वारा चुरु (धीकानेर) भी पधारे थे। इस तरह थली प्रदेश को भी उन्होंने अग्न चरण कमलों से पवित्र किया। थली प्रदेशमे धर्म प्रचार स्वामीजी क समय मे नहीं हुआ था। कच्छ देशमे धर्म प्रचार का कार्य भी टीकम डोसी क द्वारा हुआ था, जिसने स्वामीजी के दो चार दर्शन किये थे।

### —स्वामीजी की कृतियों—

मूळ जैन सिद्धान्त और जैन-आचार को जनता मे फैलाने के लिए स्वामीजीने मारवाड़ी भाषा मे साधु तथा गृहस्थ जीवन उपयोगी अनक महत्वपूर्ण रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाएँ जैन साहित्य की अमर कृतियाँ हैं। जैन धर्म के रहस्योद्घाटन मे वे एक गहरी प्रकाश डालती हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ ढालों—रागिणीपूर्ण कविताओंमे हैं। गद्य मे भी कई कृतियाँ उपलब्ध हैं। इन रचनाओंमें असाधारण आगमदीहन है और इनसे स्वामीजी की गहरी स्वाध्याय शक्ति, मूलाचार के प्रति अगाध भ्रद्धा और जैन धर्म के उद्धार के लिए उनके मनमे रही गहरी तमन्ना का परिचय मिलता है।

स्वामीजी की मुख्य रचनाएँ, जी हमारी जानकारी मे हैं निम्नलिखित हैं —

रचना	ढाल	दाहा	गाथा
१—थारह व्रत को चोपई	१३	५१	३८०
२—जुवै की ढाल	१	४	६१
३—निनाचै अतिथार की ढाल	१	२	३१
४—जिन आज्ञा को चौढालिसो	४	२२	१८६

५ - चार निखेपां की चौपई	६	३०	२६७
६—अनुकम्पा की ढालों	१४	६३	६०५
७—समकित की ढाल	१		२३
८—श्रावक गुण सञ्ज्ञा	१		२१
९—तीन बोलों करी जीव अल्प आउखो बांघे	१		३६
१०—इन्द्रीवादी की ढाल	१	७	४०
११—दान निचोड़ की ढाल	१	४	३१
१२—चतुर विचार की ढाल	३	५	२६६
१३—नन्दन मिणीयारको चौढालियो	४	१९	७८
१४—दश दान की ढाल	१	६	२६
१५—चरम जिन विनति	१		१४
१६—प्रतिमा पूजन ढाल ।	२		२४
१७—एकलरो चौढालियो	४	२०	६७
१८—सुदर्शन सेठ को ान	४२	१९७	६९७
१९—उदाई राजा को बखान	७	३३	१००
२०—जम्बु कुँवर की चौपई	४	७	५७
२१—शील की नववाड़	११	४६	१६६
२२—अर्जुन माली को चौढालियो	६	२७	५६
२३—ढुढुग मुनिको चौढालियो	४	१५	४०
२४—कृष्ण बलभद्र की चौपई	१५	४३	१६०
२५—जिनरिख जिनपालको चौढालियो	४	२८	५२
२६—जिनकल्पी साधु की ढाल	१		१३
२७—नव पदार्थ सद्भाव निर्णय	१३	६६	६८४

२८—विनय विवेक की ढाल	१	५	७५
२९—प्राणी समकित किण विधपाई रे	१	-	१६
३०—४२ शेष की ढाल	१		३०
३१—साधु के इमत की ढाल	१	५	४५
३२—पौष्या पदिलेहग की ढाल	१	७	५९
३३—भाषक नर्कगामी नय कड़ा /र	१	५	५७
३४—साधु नर्कगामी नय कड़ा /र	१	१०	३९
३५—सारस आहार की ढाल	१	८	१३
३६—पौष्ये आरे का भाष	१	६	१४
३७—पौष्ये आरे का भाष	१	८	३१
३८—मर्यादा की ढाल	१	९	३३
३९—साधु आचोर की चौपई	११	४९	५००
४०—विनीत-अविनीत की चौपई			
४१—थारइ प्रत को लेखो			
४२—फालयादी की चौपई			
४३—टीकम डोसी प्रश्नोतर			
४४—मिध्यात्वी करनी अधिकार			
४५—प्रश्यायादी की ढाल			
४६—पोत्याथय की ढाल			
४७—टालोकइ रास			
४८—लिखत	३१		
४९—१८१ बोलकी हंडी	३१		
५०—१३ द्वारा को बोकडो	३१		
५१—पाना की बर्षा	३१		

- ५२—५२ बोल को थोकडो ११५  
 ५३—समायक ओलखाबण की सज्जाय  
 ५४—सामायकरी सज्जाय  
 ५५—बिकल पचकलानी की ढाल  
 ५६—धावता बालककी मां नं दिख्या देनरी सज्जाय  
 ५७—किवाडना दोष की ढाल  
 ५८—अम्बड़ सन्यासी की ढाल  
 ५९—अत्प दोष बहु निजरा की ढाल  
 ६०—वेयावच उपर ढाल  
 ६१—व्यावलो

## — श्रीं । द्दिस परिचय—

स्वामीजीने कुल ३८ हजारके लगभग गाथाओं ॐ की रचनाकी, ऐसा उल्लेख श्रीमद् जयाचार्य ने 'भिक्षु जस रसायन' नामक ग्रंथ में किया है। स्वामीजी के परम भक्त श्रावक शोभजी की एक ढालमें भी ऐसा ही उल्लेख है। मालूम होता है कि श्रीमद् जयाचार्यने स्वामीजी के जीवन-चरित्र लिखनेके पूर्व स्वामीजीका समस्त कृतियों को एक स्थान में कर लिया था अप्रकाशित होनेसे स्वामीजीकी समस्त कृतियोंको देखनेका सौभाग्य हमें न मिला। ३८ हजार पदोंकी सख्याका पूरा मिलान करना बहुत ही जरूरी है, जिससे कि स्वामीजी की कृतियाँ अक्षय रह सकें। हमतो अभी इस कार्य को अधूरा ही छोड़ते हैं। अब हम संक्षेपमें स्वामीजीकी कृतियोंका परिचय देंते हैं

“साधु आचार की चौपई” और “१८१ बोलकी हुंडी” साधु आचार विषयक पुस्तक हैं। इनमें स्वामीजीने अपने समकालीन साधुओंमेंआ घुस दोषोंकी तीव्र अलोचना की है और साथ ही सच्चे साधु आचार और श्रद्धाका जैन आगमके ॐ वत्तीस अक्षरोंके संकलनको एक गाथा या ग्रन्थाम गिना जाता है।



अनुमार निरूपण किया है। शिथिलचारके प्रति उनके उग्र खिन्न भावनाओंका अद्भुत इन रचनाओंसे उगाया जासकता है।

“नव सद्भाव पदार्थ निर्णय” नामक पुस्तक में नव तत्वों का सूक्ष्म विवेचन है। द्रव्य जीव और भाव जीव, द्रव्य पुद्गल और भाव पुद्गल, पुण्य क्या है और उसकासचय कैसा होता है, आदि विषयों का जैसा तल्पशास्त्र ज्ञान और विवेचन इस ग्रंथ में है वैसा कम पुस्तकों में देखने में आता है। यह पहना कोई अत्युक्ति नहीं कि यह ग्रंथ अपनी कोटि का एक बेजोड़ ग्रंथ है।

“भारत व्रत को चौपई भावकोपयोगी साहित्य का एक अमूल्य रत्न कही जा सकती है जिसमें भावक के व्रतों का बहुत सुंदर ढंग से सरल-सुबोध भाषा में हृदयग्राही वर्णन है। व्रतों के अर्थ का विवेचन, आश्चर्यकारी मौलिकता और जिनागम के अपूर्व रहस्य स गर्भित है।

“शील की नव वाह” एक असाधारण उच्चकोटि की रचना है, जो एक संस्कारी ब्रह्मचारी की निर्मल लेखनी से ही प्रवहित हो सकती है। इसका एक एक शब्द और पद मनुष्य को ब्रह्मचर्य की उत्तमता की ओर आकर्षित कर हृदय को धैर्य की धारा से परिप्लावित कर देता है।

“सुदर्शन सैठ” भारवादी भाषा की रागिनी पूर्ण गाथाओं में एक सरस काव्य है जिसमें एक पत्नि व्रती सुदर्शन सैठ क ब्रह्मचर्य पूर्ण जीवनका हृदयग्राही वर्णन है।

“जिनरिस जिनपाल के चौदाविये” में स्वामीजी न व्रत अवतक अन्तरको यद्वा स्पष्ट कर दिया है और ग्रहण किय हुए व्रतों के नहीं पाळनसे कैसी दुर्गति होती है यह दिखानेकी चेष्टा की है।

‘अनुरुम्पा की ढालों’ में अहिंसा और दयाका अपूर्व वर्णन है। इनमें पद पद पर स्वामीजी का आगम गेहन और अनुगीजन की सत्प्रवृत्ति का सुंदर परिचय मिलता है। अहिंसा और दया का आगम अनुसार पर मौलिक वर्णन अत्यंत दुर्लभ है और अहिंसा के एक अमर पुजारी की छपनी से ही प्रथित हो सकना है।

“चतुर-विचार की ढालों”, “दश दानकी ढाल” और ‘दान निचोड़ की ढाल’में दान विषयका अंहीसा ही की तरह सूक्ष्म विवेचन है।

“समकित की ढाल” और श्रावक गुण सज्जाय” में सम्यक्त्व और आदर्श श्रावक के आधार भूत गुणोंका बड़ा ही सारगर्भित उपदेश है।

“विनीत-अविनीत की चौपई” में विनय और अविनयका भेद दिखाकर सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति विनयभाव को जाग्रत करने की चेष्टा की है।

“इन्द्रीवादी की ढाल” में इन्द्रियाँ सावध नहीं, मनुष्य के भाव ही सावध निर्बध हाते हैं, यह दिखाया है और इन्द्रियों को वश में करने का उपदेश दिया है।

“एकलरो चौढालियो” इस रचना में एकल विहारी साधु की तीव्र आलोचना है और इसमें जिन-आगम विपरीतता को छोड़ने की एक बलवान प्रेरणा है।

“तेरह द्वार के थोकड़े” में तेरह प्रकरण द्वारा जैन तत्वों के रहस्य को बहुत सुबोध रूप से समझाकर जेनागम रहस्य को सरल कर दिया है। यह थोकड़ा जैन गूढ तत्वों के समझने में एक चाची की तरह है।

“जिन आज्ञाके चौढालिये” में “आणाए णाणो आणाए तवो” सिद्धान्तकी सर्वोपरिता को सिद्ध किया है। जैन धर्म वही है, जिसका जिन भगवान ने परूपण किया और वही सदा शिरोधार्य है इस श्रद्धा को हृदयङ्गम कराने के लिए ही चौढालिये की उत्पत्ति हुई है।

### —शिष्य- म्पदा—

श्रीमद् जयाचार्य ने अनेक जगह स्वामीजी को “भाग्यवली” कहा है और यह भी कहा है “उन्हे उदार संयोग प्राप्त हुआ”। स्वामीजीको कितनी विकट परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा था, यह पाठक पहले देख चुके हैं। ऐसी हालत में स्वामीजी के सम्बन्ध में उपरुक्त वाक्योंका प्रयोग कुछ वेडव-सा लगता है। पर जब हम स्वामीजी के शिष्य-समुदाय पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें इस बातमें

सन्देश नहीं रहता कि वे निश्चय ही बड़े भाग्यशाली थे और उन्हें गुणवान शिष्योंका अपूर्व संयोग प्राप्त हुआ था ।

स्वामीजी ने अपने जीवन काल में ४८ साधु और ५६ साध्वियों को शिक्षित किया । जिनमें स २८ साधु और ३५ साध्वियों ने जीवन पयन्त उनकी अधिपता में साधुत्व का पालन किया । अवशेष साधु साध्वियों में से कई अपनी असमर्थता से दूर हो गये कई चरित्र की श्रुतियों के कारण अलग कर दिये गये । स्वामीजी क कठोर अनुशासन में कयल पवित्र आत्माओं को ही स्थान था । जो एकान्त आत्मार्थी थे वहाँ उनके चरणों की सेवा में रह सके ।

स्वामीजी की शिष्य मंडली में बड़े ही तपस्वी धर्ममूर्ति ज्ञानी, गुणवान बैरागी और भद्र प्रकृति क साधु थे । उनके साधुओं का जीवन बड़ा ही निर्मल और निष्कलङ्क था । इस दृष्टि से निश्चय ही वे बड़े भाग्यशाली थे ।

यहाँ स्वामीजी के शिष्यों का कुल वर्णन दे देना अप्रासंगिक न होगा —

[ १ ] मुनि धरपालजी ये वही सत थे जिनको प्रेरणासे स्वामीजीने धर्म प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया । स्वामीजी ने इनको दीक्षा में अपने से बड़ा रक्खा और आचार्य होने पर भी विधिपूर्वक रोज उन्हें बंदना करते । ये बड़े ही तपस्वी बैरागी और विनयवान सन्त थे । शीतकाल में पछेवही—परिधान दूर कर शीत सहन करते और गर्मा और वर्षा में इसी तरह अन्य अनेक तप करत । भद्रा के ये साकार स्वरूप थे । स्वामीजी के प्रति उनकी अगाढ़ भक्ति थी । जयाचार्य न कहा है—“उनकी तपस्या का वर्णन कायों के हृदय में भय का स चार कर, उन्हें कम्पित कर देने वाला है । वारों क हृदय में यह अत्यन्त हृष और पौरुष जगान वाला है ।” इनका स्वर्गवास स० १८३२ मे खैरथे शहर में हुआ । इस वर्ष चातुमसि क चार महोनों मे आपन केवल १४ दिन ही आहार किया आपको जयाचार्यन ‘धर्म मूर्ति’ कह कर सम्बोधित किया है ।

[ २ ] मुनि फतेहचंद्जी ये साधु धरपालजीके पुत्र थे । निराभिमानी

इन्हें भी दीक्षा में अपने से बड़ा रक्खा । अपने पिता की तरह इन्होंने भी स्वामीजी को धर्म-प्रचार करने की प्रेरणा दी थी । ये भी बड़े फक्कड़ साधु थे और पिता की ही तरह बड़े तपस्वी थे । एक बार इन्होंने ३७ दिन की तपस्या की और पारणा के दिन बाजरी की ठंडी घाट मिली, उसी से सन्तोष पूर्वक आहार किया । इस कारण से उनका स्वर्गवास हो गया । पिता और पुत्र दोनों वृद्ध होने पर भी उन्हें अपनी वयोवृद्धता का जरा भी मान नहीं था । जब कोई उनसे प्रश्न पूछता तो यही कहते—“स्वामीजीसे पूछो । जो वे कहें, वही ठीक है ।”

[ ३ ] मुनि टोकरजी : ये बड़े ही विनयवान सन्त थे और स्वामीजी की बड़ी भक्तिभाव से सेवा करते थे । स्वामीजीके बड़े विश्वास-पात्र थे । आपने सलेखणा कर बगड़ी शहर में स्वर्गारोहण किया ।

[ ४ ] मुनि हरनाथजी : ये भी बड़े विनयवान सन्त थे और स्वामीजी की सेवा में हर समय हाजिर रहते थे । आपने ढूँढाड़ देश में संधारा कर स्वर्ग प्राप्त किया ।

[ ५ ] भारीमालजी : आपका जन्म मेवाड़ के मूहो ग्राम में सम्वत् १८०३ में हुआ था । आपकी दीक्षा मारवाड़ के केलवे ग्राम में हुई थी । आप ही द्वितीय आचार्य हुए । स्वामीजी ने सं० १८३२ में ही इन्हें युवराज पदवी से विभूषित किया और साधु-साध्वियों को उनकी आज्ञा पालन करने और उनके नाम से दीक्षा देने का हुकुम फरमाया था । साधु भारीमालजी वचन से ही कितने गुणवान और धर्म-दृढ़ थे यह पहले दिखाया जा चुका है । आप बड़े सौम्यमूर्ति साधु थे । अन्त समय में स्वामीजी ने अपने मुखारविन्द से उनकी प्रशंसा की और शुद्ध संयम-पालन में उनका कितना सहयोग रहा, यह बतलाया था । आपने अपने शासन-काल में ३८ साधु और ४४ साध्वियों को दीक्षा दी । आप बड़े प्रतापो आचार्य थे । आप बाल ब्रह्मचारी थे । आपका देहान्त ७५ वर्ष की अवस्था में मेवाड़ के राजनगर ग्राममें मिति माघ बदी ८ सं० १८७८ को हुआ था । अन्त समय में आपको ९ पहर का अनशन आया ।

[ ६ ] मुनि अख्यरामजी : आपने बावीस सम्प्रदायसे निकल स्वामीजी के पास चारित्र्य ग्रहण किया और स्थिर चित्त से अन्त तक समय का पालन किया। आपने अन्त में ३६ दिन की तपस्या की।

[ ७ ] मुनि सुखारामजी आप लोहावटके वासी थे और धर्म से पोल्यावध थे। इनको स्वामीजी ने प्रतिबोधित किया। इनकी मुखमुद्रा देवमूर्ति सी लगती। इनकी धारणा शक्ति बड़ी निर्मल थी। प्रकृति सौम्य और सुहावनी थी। इनको अन्त में २५ दिन का अनशन आया। इनका स्वर्गवास १८६२ में हुआ।

[ ८ ] मुनि शिवजी आप बड़े सुविनीत साधु थे। अन्त समय में पंडित मरण कर स्वर्ग सिधारे।

[ ९ ] मुनि नगजी आपका जन्म स्थान कुड़या था। आप भी अन्तमें संघार कर स्वर्ग सिधारे।

[ १० ] मुनि स्वामजी आप बदीके वासी थे। जाति के सरावगी थे। आपके छोटे भाइ का नाम रामजी था। स्वामजी और रामजी दोनों यमज थे। आपकी दोक्षा रामजी की आज्ञासे केलवेमें हुई। आपका अतस्थल बड़ा ही निर्मल था। आपका देहावसान रा० १८६५ में पाली में हुआ। देहान्त के दिन आपके उपवास की तपस्या थी।

[ ११ ] मुनि खेतमजी ये भीजीद्वारके निवासी थे। इनके पिताजी का नाम शाह भागजी था। आपके दो विवाह हुए। दूसरी पत्नी का भी देहान्त हो गया। आपके पिताजी ने आपको तीसरा विवाह करना चाहा पर आपकी जरा भी इच्छा नहीं थी। आपकी दो बहिनें खलिये विवाही गई थीं। वहाँ जाकर आपने बहिन-बहू नाइ की दीक्षा के लिए पिता से आज्ञा दिलवाने के लिए अनुरोध किया। आपके मन में संसार से वैराग्य हो गया था और आप साधु होना चाहते थे। व्यापार करते समय भी आप सविधि यज्ञ पूजक बालक। आप अपने पिता के हस्तन विनयी थे कि मन में दीक्षा की तीव्र इच्छा होने पर भी आपको बराबर अपने पिता से आज्ञा नहीं मांग सकन

थे। इसी बीच भोपजी शाह ने सुना की रंगुजी सती की दीक्षा हो रही है, तब उन्होंने खेतसीजी से पूछा : “क्या तुम्हारी भी दीक्षा लेने की इच्छा है ?” खेतसीजी ने हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक कहा— “हां, मैं दाक्षा लेना चाहता हूँ। मुझे संसार से विरक्ति हो गई है। आप आज्ञा दें, तो दीक्षा लूँ”। यह सुनकर शाह भोपजी ने दीक्षा की अनुमति दे दी और रगुजी के साथ ही खेतसीजी का दीक्षा महोत्सव किया गया। आपकी दीक्षा स० १८३८ में स्वामीजी के हाथ से हुई। श्रीजीद्वार से विहार कर जब स्वामीजी इनके साथ कोठारे पहुंचे तो पीछे भोपजी का देहान्त हो गया। खेतसीजी बड़े ही विनीत साधु निकले। जब कभी स्वामीजी इन्हें किसी कार्य की आज्ञा देते, तो वे हाथ जोड़ कर तुरन्त उसे करने के लिए हाजिर रहते। जब कभी स्वामीजी इन्हें कोमल-कठोर शिक्षा देते तो ये उसे शान्ति से हर्षपूर्वक ग्रहण करते और इनके मुख से केवल ‘तहतवचन’ ही निकलता। स्वामीजी जैसे कठोर अनुशासन-प्रिय आचार्य को अपनी सेवाओं से प्रसन्न रखना एक मामूली बात नहीं और वह एक अन्तरंग भक्ति-भाव की परिचायक थी। स्वामीजीने उनका नाम “सतयुगी” रखा था। उनकी प्रकृति सतयुगी पुरुष की तरह विनयी एवं निर्मल थी। जयाचार्य ने उनके लिए “गण-आधार” विशेषण प्रयुक्त किया है। आप बड़े तपस्वी थे और अनेक बार पाँच-पाँच के थोकड़े किये और ऊपर में १९ दिन की तपस्या की, जिसमें केवल एक बार जल पीने की छूट रखी थी। एक पहर खड़े रहने की तपस्या आपने अनेक वर्षों तक की। शीत और उष्ण की तपस्या भी आपने की। आपने बावीस वर्ष तक स्वामीजी की सेवा की और द्वितीय आचार्य भारीमालजी के साथ १८ वर्ष रहे। आ० भारीमालजी के बाद सलेबणा—संधारा कर १८८० में स्वर्ग सिधारे। आप इतने गुणवान थे कि श्रीमद् जयाचार्यने आपका एक अलग जीवन चरित्र लिखा है।

[ १२ ] मुनि रामजी : आप भी बड़े सरल साधु थे और सयम-पालन में बड़े निपुण थे। आपका देहान्त इन्दुगढ में १८५० में हुआ। देहावसानके दिन आपके चार दिन के उपवास की तपस्या थी।

[ १३ ] मुनि नानजी आप जाति के बोहरे थे । आपका ग्राम बरल्या था । आपने १८४१ में दीक्षा ली और स्वामीजी के बाद १८७१ साल में तेले की तपस्या में आपका देहान्त हुआ ।

[ १४ ] मुनि नैमजी आप रोयट के निवासी थे । आपने स्वामीजी से दीक्षा ली और बहुत बरपौ तक समय का पालन किया । आपने नैणवे शहरमें संघार किया और स्वग सिधारे ।

[ १५ ] मुनि बेणीरामजी आपकी दीक्षा १८४४ में हुई थी । आपको स्वामीजी ने दीक्षा दी थी । आपने बड़े ही निर्फलक रूप से धारित्र का पालन किया । आप बगड़ी के वासी थे । आप बड़े ही प्रबल पण्डित और चर्चावादी सन्त निकले । आपने बड़ी ध्याति प्राप्त की । आप व्याख्यान बहुत ही सुन्दर देते और उनमें मौलिक दृष्टियों की भरमार रहती । आपके वचन श्रोता को बड़े मशुर लगते और आपके उपदेश से श्रोता चमत्कार को प्राप्त होते । आपने मालवा जा वहाँ धर्म-चर्चा कर अनेक जनों को प्रतिबोधित किया । आपकी बड़ी धाक पड़ती । आपके शब्दों में केशरी सिंहकी सी गूँज थी । आपकी बुद्धि बड़ी उदार और उत्पादक थी । आपने अनेकों को समय दिया और धर्म वृद्धि करने में बहुत सहायक हुए । आपका स्वगवास स्वामीजी के बाद हरचसर शहर में १८७० की सालमें हुआ ।

[ १६ ] मुनि बर्दमानजी आप कोटे के दीक्षतरामजी के टोले के साथ थे और उनके टोले से निकल कर स्वामीजी के संघ में दीक्षित हुए । इस तरह से पवित्र मार्ग में आ आपने अपना जन्म सुधारा । एक बार आप विचरते विचरते कुंदाई देश में अये और लू लगने के कारण विमार हो गए । अन्तमें संघारा छ दिया और स्वग निधारे ।

[ १७ ] मुनि मुनजी आपको स्वामीजीने दीक्षा दी । आप टुणचके निवासी थे और बड़े गुणवान और मुसनी थे । आपने अन्त समय में अनसन किया । आपको दस दिनका संघार थाया । आपका देहान्त सन्वत् १८६४ में स्वामीजीके बाद स्वगमें हुआ ।

( १८ ) मुनि हेमराजजी: आपका जन्म सम्बत् १८२९ की सालमें शिरियारी गाँव में हुआ था। आप ओसवाल थे। आप अमरोजी बागरेचा के सुपुत्र थे। आपकी माता का नाम सोमाजी था। जब मुनि हेम उदरस्थ हुए तब सोमाजी ने देव विमाण देखा। सोमाजी के सन्तान जीती न थी। उन्होंने हाथ जोड़ कर विनती की “भेरे सन्तान जीती नहीं।” उन्हें वापिस उत्तर मिला : “तुम्हारी दो सन्तानें जीवित रहेंगी।” यह स्वप्न देख कर सोमाजी खूब हर्षित हुईं। स्वप्न के अनुसार ही उन्हें बड़ा पुण्यवान पुत्र प्राप्त हुआ। हेमराजजी का जन्म माह शुक्ल १३ शुक्रवार के दिन पुष्य नक्षत्र में हुआ था। उस समय आयुष्मान् योग था। आप के एक छोटी बहिन भी हुईं, जिनका नाम रत्तुजी था। आप बचपन से ही धर्म से प्रेम रखते थे। आप साधु सन्तों की प्रेमभाव से सेवा करते और रोज सामायिक करते। अन्तःकरण से बड़े पाप-भीरु थे। १५ वर्ष की बाल अवस्था में ही आपने पाप भय से परनारी का त्याग किया। आप धर्म-चर्चा में बड़े प्रखर थे। आपकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण, तत्पर तथा हाजिर-जवाब थी। कण्ठ बड़े मधुर और सुरीले थे। गृहस्थावस्था में भी आप व्याख्यान देते और लोगों को धर्मध्यान की ओर आकर्षित करते। आप व्यापार के लिए पाली, भिलाड़े आदि स्थानों को जाते तो वहाँ भी श्रावकों को समझा उन्हें व्रत आदि ग्रहण करने को प्रेरित करते। आप इतने निर्भीक थे कि विपक्षी साधुओं के स्थानकों में जाकर उन से चर्चा कर उन्हें परास्त करते। हेमराजजी के ये गुण देख कर स्वामीजी उनके प्रति बड़े ही आकर्षित थे। हेमराजजी का भी विचार दीक्षा लेने का था पर विचार-विचार में ही उन्होंने ३ वर्ष निकाल दिए। आपकी इच्छा, विवाह कर, कुछ वर्ष घर में रह, फिर दीक्षा लेने की थी। पर आखिर में सम्बत् १८५६ की साल दीक्षा लेने का पक्का विचार ठान लिया। और स्वामीजी से यावज्जीवन विवाह न करने का नियम ले लिया।

हेमराजजी के गुणों से स्वामीजी इतने आकर्षित थे कि जब उन्होंने दीक्षा के पूर्व साधु-प्रतिक्रमण सीखना शुरू किया तब ही भारीमालजी से बोले : “अब तुम



निश्चिन्त रह सकोगे। आगे मैं था और अब तुम्हारे लिए यह हेम है। जब कभी धर्म-धर्मा का काम पड़े तो हेम को तैयार समझना।”

हेमराजजीने गृहास्थावस्था में ही माघ सुदी १५ स० १८५३ के बाद छ-काय जौनों की हिंसा करने का त्याग कर दिया था। उनकी दीक्षा के लिए माघ सुदी १३ का दिन नियत किया गया। उनके बड़े माप के घेरे ने राबले में शिष्यायत की—‘भीखणजी हेमराज को जोर जबरन दीक्षा देना चाहते हैं।’ स्वामीजी को गाँव में न रहने की आज्ञा दी गई।

गाँव के पंच हेमराजजी का साथ ले ठुकराणीजी के यहाँ गये। हेमराजजी ठुकराणी के पास पहुँचे और दीक्षा लेने की आन्तरिक भावना दिखाई। हेमराजजी देरानेमें बड़े ही स्वभाव थे। बस्त्रों और गहनों से सुसज्जित होने से वे और भी सुन्दर लग रहे थे। ठुकराणीजी ने कहा : ‘मैं अभी तुम्हारा विवाह कराए देती हूँ।’ हेमराजजी बोले ‘अपको पाणि-प्रहण करवाने से इतना प्रेम है तो गाँव में कुँवारे और भो बहुत हैं। मैं तो विवाह न करने का नियम ले चुका हूँ।’ इतना कह वे वहाँ से उठ स्वामीजी के पास आ गए। ठुकराणीजी ने हेमराजजी की अन्तस्थ वैराग्य भावना को देख कर स्वामीजी पर लगाए हुयम को हटा लिया।

दीक्षा के समय हेमराजजी की अवस्था २४ वर्ष की थी। पूर्ण युवावस्था में सङ्गून भोगों को तिलाञ्जलि दे आगने धर्म-भाग पर अपने को न्योछावर कर दिया। आपकी दीक्षा शिरियारी में एक विद्यालय बड़ बृक्ष के नीचे हुई और उस समय हजारों लोग देराने आए। आपकी दीक्षा १८५३ के माघ शुक्ल प्रयोदशी बुधसप्तवार के दिन हुई। उस समय पुस नक्षत्र और आयुष्मान् योग था।

मुनि हेमराज जी बड़े ही उद्योतकारी पुरुष हुए। श्रीमद जयानाथ ने आपकें लिए “जिन-रागन का सङ्गम” विशेषण लगा कोई अत्युक्ति नहीं की परन्तु उनकी महान्पुरुषता को ज्यों-की-त्यों बड़े-बुढ़े शब्दों में ही अभिव्यक्ति दी है। जब हम मुनि हेमराज जी के जीवन पर दृष्टि डालते हैं तो वे एक महान् गणधर से

लगते हैं जिन्होंने स्वामीजी के सट्टिश को एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचाया । एक बहुश्रुती तपस्वी, एक विराट् योगी, एक वैरागी सन्यासो, एक ज्ञानी मुनि और पुरुषार्थी आत्मारथी के रूप में उनके दर्शन होते हैं ।

चतुर्थ आचार्य पूज्यपाद जयाचार्य के आप विद्यागुह रहे । उनके निर्माण का सारा श्रेय आप ही को था । श्रीमद् जयाचार्य ने “हेम नवरसो” में आपके जीवन चरित्र पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाल, अपनी आन्तरिक कृपज्ञता प्रगट की है । आपने कितने साधु सतों को पण्डित किया, कितनी दीक्षाएँ दीं और कितने लोगों को श्रावक बना सच्चे धर्म का प्रकाश किया—आदि बातों को जब सोचें तो वास्तव में आप को स्वामीजी के मार्ग का आधारपुरुष कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं । श्रीमद् जयाचार्य कहते हैं :

“उपशम सम दम शील में हो, हेम सरोखा सन्त ।

चौथे आरे पिण विरला होसी हो, साध महा गुणवन्त ॥”

आपका स्वर्गवास सम्बत् १९०४ के वर्ष मे जेठ सुदी २ के सुबह शिरियारी मे हुआ । आपने साधु जीवन में ५१ वर्ष तक विहार किया ।

[ १६ ] मुनि उदयरामजी : आप जाति के चपलोत थे और केलवा के निवासी थे । आप बड़े ही तपस्वी सन्त निकले । आपकी दीक्षा पाली में १८५५ की साल मे स्वामीजी के हाथ से हुई थी । आपने बड़े ही उमगके साथ आविल तप किया । दिन-दिन चढते वैराग्य से उसे ४२ ओली तक चढ़ा दिया । छठ-छठ आदि और भी अनेक तप आपने किये । आपने ८४१ आम्बिल किये । आप आचार्य भारीमालजी के वरतारे मे स० १८६० मे सथारा कर चेलावास मे स्वर्ग सिधारे ।

[ २० ] ऋषि रायचन्द्रजी : आपकी दीक्षा स० १८५७ में रावलियाँ ग्राम मे हुई थी । आप जाति के बम्ब थे । आपके पिताजी का नाम चतरोजी शाह था । आपने दीक्षा ली उस समय आपकी अवस्था लगभग ११ वर्ष की थी । आपका बर-घोडा हाथी के हँडे पर निकाला गया था । आपके साथ आपकी माता कुशलज

ने भी दीक्षा ली। चैत सुदी १५ के दिन दीक्षा हुई। आपकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। आप बड़े गुणवान और पुण्यवान थे। यह देख कर स्वामीजी ने फरमाया—“ यह पुण्यवान बालक तो आचार्य-पद के योग्य है ”। ऋषि रामचन्द्रजी बड़े ही सौम्य-मूर्ति थे। आपकी मुद्रा बड़ी ही हंसमुख थी। स्वामीजी ने आपको आगे से ही तृतीय आचार्य पद के ल्ययक घोषित कर दिया था। इसी से समझा जा सकता है कि यह बालक सत कितना तेजस्वी और प्रतिभा सम्पन्न था। अन्त समय में आपने स्वामीजी को कितना सहारा दिया, इसका वर्णन एक जगह ऊपर आ चुका है। आप भारीमालजीके लिए ‘भुजागल’ की तरह थे। आपने भारीमालजी की आज्ञा ले, सब प्रथम १८६९ की साल में जीतमलजी महाराज को दीक्षा दी, जो आगे जाकर चतुथ आचार्य पद के स्वामी हुए। ऋषि रामचन्द्रजी ने अन्त समय में भारीमालजी को बड़ा ही सहारा पहुँचाया। आप बड़े ही उद्योतकारी आचार्य हुए। साधु रातसीजी सांसारिक हिसाब से आपके मामा थे। जैसे ही प्रकाशकारी सुर्य आचार्य भीखणजी थे, वैसे ही प्रकाशकारी शिष्य भी उनके पास आ जुटे। आपने अपने शासन काल में ७७ साधु और १६८ साध्वियों को दीक्षित किया। आपका देहांत ६२ वष की उमर में माघ बदी १४ सं० १८०८ की रावलियाँ में हुआ। आपने स्वामीजी भी जीतमलजी को मावी आचार्य मनोनीत किया।

[२१-२२] मुनि ताराचन्द्रजी आपकी दोषा सं० १८५७के जठ मासमें हुईं। आप क पुत्र हंगरगौर्जन भी दीक्षा ली। ताराचन्द्रजी ने अपनी स्त्री को छोड़ कर और हंगरगौ जी न रगवाई छोड़ दीक्षा ली थी। दोनों ही सन्त बड़े परमगी थे। स्वामीजी के देहान्त के बाद दोनों ने संघरा कर जन्म को साधक किया। ताराचन्द्रजी को ४१ दिन का और हंगरगौजी को १० दिन का संघारा आया।

[ २३ ] मुनि जैदेवीजी आप सागून नियगी थे। आपने बरख्याँ में दीक्षा ली। आप एक मदन मुनि निकटे। आप एक सरत और मद्र प्रष्टनिके साधु थे।

आपने तीन आचार्यों की सच्चे मन से सेवा की और ऋषि रायचन्द्रजी के बरतारे में १८९० की साल में गोगुन्दा में अनशन कर देहावसान किया।

[ २४ ] मुनि जोगीदासजी : आप बड़े ही जबरदस्त मुनि हुए। आपने स्त्री छोड़ कर दीक्षा ली थी। बचपन से ही आप बड़े वैरागी थे और यही देखकर स्वामीजी ने दीक्षा दी। आप केलवा के निवासी थे। आप अपने नाम की तरह ही एक सच्चे योगी थे। दीक्षा के थोड़े ही काल बाद शहर पीसागण में चौबिहार सथारा ( जिसमें सर्व प्रकार के आहार और जल का आजीवन त्याग हो ) टा दिया और सम्वत् १८५९ की साल में आत्मा का उद्धार कर, मनुष्य जन्म को सार्थक बनाया।

[ २५ ] मुनि जोधोजी : आप केरड़ा ग्राम के निवासी थे। स्वामीजी ने स्वयं अपने हाथ से इन्हें दीक्षा दी थी। ये बड़े ही तपस्वी सन्त निकले। आपने आछ के आगार से ढाई मास की तपस्या की और कोचले ग्राम में ३८ दिन का संथारा कर स्वामीजी के देहान्त के बाद स्वर्गलोक सिंधारे। स्वामी जोधोजी वास्तव में ही एक योद्धा थे, जिन्होंने कर्म-रूपी शत्रुओंको काटकर अपनी माताकी कोखको उज्वल किया।

( २६ ) मुनि भगजी : आप शहर खेरवा के निवासी थे। स्वामीजी ने आपको आपकी बड़ी बहिन की आज्ञा से दीक्षा दी। विनय गुण से आपकी बहुत शोभा हुई। आप जाति के वैद मुहता थे। आपने प्रथम तीन आचार्यों की बड़ी भक्ति-भाव से सेवा की। ऋषि रायचन्द्रजी के बरतारे में आप पण्डित-मरण प्राप्त हुए। आपका देहावसान सं० १८९९ में हुआ।

( २७ ) तपस्वी भोपजी : आप कोशीथल के वासी थे। आप जाति के चपलोट थे। आपको स्वामीजी ने पाली में दीक्षा दी। दीक्षा लेने के बाद ही आपने तपस्या करनी शुरू कर दी। धीरे २ चढाते २ आपने ६६ और ६८ दिन तक की तपस्या की। एकबार चतुर्मासमें आपने केवल १७ पारणे ही किये। आपका देहान्त १८६६ की साल हुआ। आपको साढ़े चार पहर का संथारा आया।

स्वामीजी के शिष्यों का परिचय होष हुआ। अब हम सक्षप में आर्याजों का परिचय देते हैं —

[ १ ] सती कुशलाजी आप सतियों में सबसे बड़ी सती थीं। आपने बड़े ही शुद्ध रूप से समय का पालन किया। एक बार आप गुदोच में विराजती थीं। वहाँ एक जहरीले जानवर ने आपको हस लिया। आपने कोई उपचार नहीं करवाया और शात भाव से इस उपसर्ग को सहन किया। आपके परिणाम बड़े उत्तम रहे।

[ २ ] सती मदुजी आप एक महान् सती थीं। आपने स्वामीजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर आराधक पद पाया।

[ ३ ] सती मुजाणीजी आप एक बड़ी निमल सती थीं। आपने शुद्ध चरित्र का पालन किया।

[ ४ ] सती देऊजी आप भी एक पुण्यवान सती थीं।

[ ५ ] सती गुमानाजी आपने अन्त समय में संघार कर समय को उज्वलित किया।

[ ६ ] सती कसुम्बाजी आपने भी उदार—दीर्घ अनशन कर देह विसर्जन किया।

[ ७ ] सती जीऊजी आपने अनेक पुत्रों को घर में छोड़ दीक्षा ली थी। आप रिया की निवासिनी थीं। दीक्षा लेने के थोड़े दिन बाद ही शहर पीपाड़ में संघार कर आपने अपना कार्य सिद्ध किया।

[ ८ ] सती मैनाजी आप पुर की निवासिनी थीं। आपने पति छोड़ कर दीक्षा ली थी। आप पढ़ लिख कर बहुत पढिता हुईं—बहु सत्रों की जानकार हुईं। आपने सं० १८६० की साल में संघार किया।

[ ९ ] सती रंशुजी आप भीजिंदार की निवासिनी थीं। जाति की पोरवाल थीं। आपने सं० १८२८ में स्वामी खेतसीजी के साथ दीक्षा ली। आप शानो ध्यान में विख्यात थीं। आपका स्वर्गवास शिरीयारी में हुआ।

[ १० ] सती सदांजी: आप भी एक महासती थीं । आपकी जानि तलेसरा थी । आपका ग्राम श्रीजीद्वार था । आपने अन्त समय में संथारा कर आत्म-कल्याण किया ।

[ ११ ] सती फुर्लांजी : आपने अपने अनेक पुत्रों को छोड़ दीक्षा ली । आपका ग्राम कंटाळिया था । आपने लोढोती में अनशन किया ।

[ १२ ] सती अमरांजी : आप एक उत्तम आर्या थीं । आपने अन्त समय में संथारा कर मनुष्य जन्म को जीत लिया ।

[ १३ ] सती तेजूजी : आप पोरवाल थीं । आपका ग्राम डोलकम्बोल था । आपने दीक्षा के कुछ दिनों बाद ही संथारा ठा दिया । आपको ४२ दिन का संथारा आया ।

[ १४-१६ ] सती बगतुजी: आपका गांव बगड़ी था । आप, सती हीरांजी और सती नगांजी तीनों ने एक साथ दीक्षा ली थी । सं० १८४४ सालमें स्वामीजी ने दीक्षा दे, इन तीनों सतियों को सती रंगुजी को सौंप दिया । स्वामी भीखणजी के बाद तीनों सती सथारा कर परलोक सिधारीं ।

[ १७ ] सती अजबुजी: आप जयाचार्य को बूआ थीं । आपने १८४४ साल में चारित्र लिया । सम्बत् १८८८ में आप परलोक सिधारीं ।

[ १८ ] सती पन्नांजी. आपका जन्म-स्थान शिरीयारी था । अन्त समय में सथारा कर आपने पंडित-मरण प्राप्त किया ।

[ १९ ] सती गुमानांजी: आप एक महा गुणवान सती थीं । आपका ग्राम तासोल था । आप जीवोजी मुनि की वढ़ी माँ थीं । आपने एक मास की तपस्या धारण की और फिर दो मास की तपस्या का विचार ठान लिया । आखिर में संथारे में आपका देहान्त हुआ ।

[ २० ] सती खेमांजी: आपका गाव वूदी शहर था । आप जाति से सरावगी थीं । आपने खेरवे में सन्थारा ठान जन्म सुधारा ।

[ २१ ] सती रूपांजी : आप साधु 'सतयुगी' की बहिन थीं और ऋषि रायचन्द्रजी

स्वामीजी के शिष्यों का परिचय शेष हुआ। अब हम सक्षप में आर्याओं का परिचय देते हैं :—

[ १ ] सती कुशलाजी आप सतियों में सबसे बड़ी सती थीं। आपने बड़े ही शुद्ध रूप से संयम का पालन किया। एक बार आप शुद्धोच में विराजती थीं। वहाँ एक जहरीले जानवर ने आपको डस लिया। आपने कोई उपचार नहीं करवाया और शान्त भाव से इस उपसग को सहन किया। आपके परिणाम बड़े उच्च रहे।

[ २ ] सती भटुजी आप एक महान् सती थीं। आपने स्वामीजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर आराधक पद पाया।

[ ३ ] सती झुजाणाजी आप एक बड़ी निर्मल सती थीं। आपने शुद्ध चारित्र्य का पालन किया।

[ ४ ] सती देलजी आप भी एक पुण्यवान सती थीं।

[ ५ ] सती गुमनाजी आपने अन्त समय में संभारा कर संयम को उज्वलिा किया।

[ ६ ] सती कसुम्बाजी आपने भी उदार—दीर्घ अनशन कर देह विसर्जन किया।

[ ७ ] सती जीऊजी आपने अनेक पुत्रों को घर में छोड़ दीक्षा ली थी। आप रियों की निवासिनी थीं। दीक्षा लेने के थोड़े दिन बाद ही शहर पीपाड़ में संभारा कर आपने अपना कार्य सिद्ध किया।

[ ८ ] सती मैणाजी आप पुर की निवासिनी थीं। आपने पति छोड़ कर दीक्षा ली थी। आप पढ़ लिख कर बहुत पढिता हुईं—बहु सत्यों की जानकार हुईं। आपने स० १८६० की साल में संभारा किया।

[ ९ ] सती रंगुजी आप भीजीद्वार की निवासिनी थीं। जाति की पौरवाल थीं। आपने स० १८३८ में स्वामी खेतसीजी के साथ दीक्षा ली। आप ज्ञानी प्यान में विद्वान्ता थीं। आपका स्वर्गवास शिरीयारी में हुआ।

[ १० ] सती सदांजी: आप भी एक महासती थीं । आपकी जानि तलेसरा थी । आपका ग्राम श्रीजीद्वार था । आपने अन्त समय में संथारा कर आत्म-कल्याण किया ।

[ ११ ] सती फुर्लांजी : आपने अपने अनेक पुत्रों को छोड़ दीक्षा ली । आपका ग्राम कंटालिया था । आपने लोढोती में अनशन किया ।

[ १२ ] सती अमरांजी : आप एक उत्तम आर्या थीं । आपने अन्त समय में संथारा कर मनुष्य जन्म को जीत लिया ।

[ १३ ] सती तेजूजी : आप पोरवाल थीं । आपका ग्राम डोलकम्बोल था । आपने दीक्षा के कुछ दिनों बाद ही संथारा ठा दिया । आपको ४२ दिन का सथारा आया ।

[ १४-१६ ] सती वगतुजी: आपका गांव वगड़ी था । आप, सती हीरांजी और सती नगांजी तीनों ने एक साथ दीक्षा ली थी । सं० १८४४ सालमें स्वामीजी ने दीक्षा दे, इन तीनों सतियों को सती रंगुजी को सौंप दिया । स्वामी भीखणजी के बाद तीनों सती सथारा कर परलोक सिधारीं ।

[ १७ ] सती अजबुजी: आप जयाचार्य को वूआ थीं । आपने १८४४ साल में चारित्र लिया । सम्बत् १८८८ में आप परलोक सिधारीं ।

[ १८ ] सती पन्नांजी: आपका जन्म-स्थान शिरीथारी था । अन्त समय में सथारा कर आपने पंडित-मरण प्राप्त किया ।

[ १९ ] सती गुमानांजी: आप एक महा गुणवान सती थीं । आपका ग्राम तासोल था । आप जीवोजी मुनि की वड़ी मां थीं । आपने एक मास की तपस्या धारण की और फिर दो मास की तपस्या का विचार ठान लिया । आखिर में संथारे में आपका देहान्त हुआ ।

[ २० ] सती खेमांजी: आपका गांव बूंदी शहर था । आप जाति से सरावगी थीं । आपने खेरे में सन्थारा ठान जन्म सुधारा ।

[ २१ ] सती रूपांजी : आप साधु 'सतयुगी' की बहिन थीं और ऋषि रायचन्द्रजी



की मौसी। आपने पति और पुत्र दोनों को छोड़ दीक्षा ली। आपकी दीक्षा १८५२ को साल हुआ और १८५७ में आपने संघारा किया। आप कुशर्लाजी की छोटी बहिन थीं।

[ २२ ] सती सरुपाजी आप जाति से अग्रवाल थीं। माधोपुर की रहने वाली थीं। आपने तीन पुत्रों को छोड़ कर दीक्षा ली और कंटालिया ग्राममें संघारा किया।

[ २३ ] सती बरजुजी आप बड़ी यशस्विनी सती थीं। आप बड़ी शीलवान और गुणवान सती हुईं। स्वामीजी ने आनन्द मान बहुत बढ़ाया। आपने बड़ी कीर्ति प्राप्त की।

[ २४ ] सती बीजाजी आप बड़ी तपस्विनी थीं। अपने जीवनान्त में आपने बड़ा कठोर तप किया।

[ २५ ] सती बर्नाजी आप बड़ी विनयवान सती थीं। आपका चित्त बड़ा निर्मल था। आपने शुद्ध संयम का पालन कर आत्मा को उज्वल किया। स्वामीजीने सती बरजुजी बीजाजी और बर्नाजी तीनों को एक ही साथ प्रतिबोधित कर एक ही दिन दीक्षा दी। तीनों सतिया बड़ी ही सौम्य मुद्रा थीं। अन्तमें तीनों ने संघारा कर आत्म कल्याण किया।

[ २६ ] सती उर्दाजी आप बड़ी उद्यमवान सती थीं। आप जातिकी सुनार थीं। आपने अनेक वर्षों तक चारित्र्य का पालन कर अन्त में अविष्ट में संघारा कर अपने जन्म को सार्यक किया।

[ २७ ] सती जुमाजी आपकी जाति पोरवाल थी। आपका गाँव धीजीद्वार था। आपकी दीक्षा १८५६ में हुई। सं० १८२० की शाल में स्वामीजी के देहान्त के बाद आपने संघारा कर देह-विसर्जन किया।

[ २८ ] सती हस्तुजी आप जाति से लोहड़ा साजन थी। आपने पति और पुत्र को छोड़ दीक्षा ली। आप लक्ष्मण धराने की थीं। आपके घर वालों ने आपको बहुत दुःख दिया परन्तु आप दीक्षा लेने के निवार में अडिग रहीं। आपको सं० १८९७ में संघारा आया।

[ २९ ] सती कुशलाँजी: आपका गाँव रावलिया था । आप साधु खेतसीजी की बहन और ऋषि रायचन्दजी की माता थीं ।

[ ३० ] सती कस्तुराँजी: आप हस्तुजी की बहन थीं । आपने भी पति और पुत्र छोड़कर दीक्षा ली । आपने १८७७ की साल में उज्जैन में सथारा किया ।

[ ३१ ] सती जैताँजी: आपने लाहवा में दीक्षा ली । आप बड़ी ही वैराग्यवान सती थीं । आपने पति को छोड़ कर दीक्षा ली थीं ।

[ ३२ ] सती नौराँजी. आपका गाँव शिरीयारी था । आप ने भी पति छोड़ दीक्षा ली । आपने १८७२ साल में सन्थारा कर जन्म सार्थक किया ।

उपरोक्त पाँचों सतियों ने अर्थात् हस्तुजी, कुशलाँजी, कस्तुराँजी, जैताँजी और नौराँजी—सबने अपने अपने पति छोड़ एक साथ दीक्षा ली थी । पाँचों ही बड़ी वैराग्यवान थीं ।

[ ३३ ] सती कुशलाँजी: आपने १८७७ में सथारा किया और माधोपुर में कार्तिक मास में परलोक-वास किया ।

[ ३४ ] सती नायाजी. आप एक धनवान घराने की थीं । आपकी प्रकृति बड़ी निर्मल और सरल थी । आपने जसोल में सथारा किया ।

[ ३५ ] विजाजी ने ३२ दिन की तपस्या को और अन्तमें आपको तीन दिन का सथारा आया । आप स० १८८६ में स्वर्गलोक सिधारीं ।

[ ३६ ] सती गोमाँजी: आपकी दीक्षा स० १८५९ में हुई थी । आप ऋषि सहपरामजी, भीमजी और जोतमलजी की ससार लेखेसे काकी थीं ।

( ३७ ) सती जसोदाजी. आपका गाँव खेरवा था । आप भी बड़ी गुणवान सती थीं ।

( ३८ ) सती माहीजी

( ३९ ) सती नोजाजी

स्वामीजी के पास कुल ५६ महिलाओं ने दीक्षा ली, जिनमें से १७ अलग हो गईं और ३९ साध्वियाँ गण में शुद्ध रीति से रहीं ।

साधु-साध्वियों की उपरोक्त प्रयत्न-संख्या से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जिन-शासन के उद्धार के लिए स्वामीजी ने कितना प्रबल प्रयत्न किया था और अन्त तक उन्हें कितनी महान सफलता प्राप्त हुई थी।

स्वामीजी ने अपने पीछे मूलाग्रम अनुसार निर्दोष साधुमत पालन करनेवाले आत्माधी साधु-साध्वियों का एक बृहद् समुदाय छोड़ा। इस समुदाय में धुरधर विद्वान्, महान तपस्वी, असाधारण तत्वज्ञानी और आत्मज्ञ साधु साध्वियाँ थीं।

स्वामीजी के श्रावकों में विजयचन्द जी पट्टशा, कवि महेसदास जी कवि शोमजी, टीकमजी बोसी, नेस्लास्त्री व्यास के नाम प्रसिद्ध हैं।

### —स्वामीजी के जीवन-चरित्र की सामग्री—

स्वामीजी का जीवन-चरित्र पहले-पहल मुनि श्री बेणीरामजी ने लिखा, जो स्वामीजी के एक प्रज्ञावान शिष्य और सम-सामयिक साधु थे। यह सक्षित जीवन-चरित्र स्वामीजी के स्वगदाय के कुछ ही समय बाद लिखा गया था। इसमें १३ बालें हैं। यह जीवन-चरित्र छप भी चुका है।

स्वामीजी के देहांत के बाद उस समय के अन्य विद्वान सतोंने भी उनके गुणगान में बालें आदि जरूर रची होंगी—ऐसा हमारा अनुमान है। एसी बालों के संग्रह से स्वामीजी के जीवन के अनेक पक्षों पर प्रकाश पड़ेगा। ऋषि हेमराजजी ने भी स्वामीजी का एक जीवनचरित्र लिखा था—ऐसा उल्लेख “मिश्रु जश रसायन” नामक काव्य के उपसंहार में मिलता है। हम इस चरित्र को अभी तक देख नहीं पाए हैं। स्वामीजी के सस्मरण और दृष्टान्तों का संचलन भी उनकी एक महान देन है। इस संचलन में स्वामीजी के जीवन के सस्मरण सगृहीत हैं और उनसे स्वामीजी के जीवन-चरित्र की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। उनमें से अनेक दृष्टान्तों और सस्मरणों का इस जीवन-चरित्र में उपयोग किया गया है। स्वामीजी का एक विस्तृत और बहुत ही उत्तम कोटि का काव्यमय जीवन-चरित्र चतुर्थ आचार्य भीमद जयाचार्य ने लिखा है। यह जीवन-चरित्र “मिश्रु-जश-रसायन” नाम से प्रसिद्ध है।

और मारवाड़ी भाषा में है। यह नागरी और गुजराती लिपि में छप चुका है। इसमें कुल ६३ ढालें हैं। प्रत्येक ढाल रागिनी पूण काव्य में है और उसके पूर्व में दोहे देकर उस ढालमें आनेवाले विषय का आभास दिया है। इसे पढ़ते ही आत्मा आनन्द-विभोर हो जाती है। यह ग्रन्थ श्रीमद् जयाचार्य की अद्भुत काव्य-शक्ति का बड़ा ही सुन्दर परिचय देता है।

“भ्रमविष्वसनम्” नामक पुस्तक के द्वितीय संस्करण की भूमिका में दिया हुआ संक्षिप्त जीवन-परिचय ही गायद हिन्दी में स्वामीजी का पहला जीवन-चरित्र है। “ओसवाल नवयुवक” मासिक पत्र के वर्ष ९ अङ्क ८ में लेखक द्वारा लिखी एक संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित हुई थी।

“श्रीमद् आचार्य भीखणजी के विचार रत्न” नामक पुस्तक के उपोद्घात में लेखक द्वारा स्वामीजी के जीवन का कुछ विस्तार से परिचय दिया गया है।

स्वामीजी की जीवनी उनके निजी साहित्य में काफी मात्रा में छिपी पड़ी है। यदि स्वामीजी की समस्त कृतियों को सगृहीत किया जाय तो स्वामीजी के दृष्टान्तों और सुन्दर प्रवचनों का एक महान् सग्रह उपलब्ध हो सकता है।

श्रावक शोभजी की कई रचनाओं से स्वामीजी के जीवन के कई पहलुओं पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उनकी सारी कृतियाँ उपलब्ध नहीं। स्वामीजी की जीवन-सामग्री की दृष्टि से भी उनका संगृहीत होना जरूरी है।

श्रीमद् जयाचार्य की कई फुटकर ढालों में स्वामीजी के लिखत और मर्यादाओं का वर्णन आया है। भिन्न २ मर्यादा महोत्सव पर लिखी उन की ढालों में अवश्य ही स्वामीजी के जीवन की प्रचुर सामग्री है। “कालवादी की चौपाई” में स्वामीजी के सुन्दर दृष्टान्त निहित हैं—ऐसा श्री जयाचार्यने एक जगह उल्लेख किया है। मिथ्या-त्वीकी करणी पर भी अनेक दृष्टान्त तद्विषयक ढालोंमें हैं। “पोत्या बध” और “प्रज्यावादी” की ढालों में भी अनेक दृष्टान्त हैं। टीकम डोसी और स्वामीजी के बीच सुन्न प्रश्नोत्तर में से अनेक सामग्री प्राप्त हो सकती है।

स्वामीजी की कई अमूल्य धर्म-कथाएँ दृशान्त और जीवन प्रसंग साम्यद भाव तरु अलिखित हा हैं और गुरु-परम्परासे बेदल रचुति के विषय हैं और बेबल सुन कर ही जाने जा सकते हैं । पूज्यपाद आन्वाय महाराज तथा अन्य संतों की सेवा से ऐसी काफो सामग्री इकट्ठी की जा सकती है ।

---

खण २  
जी - श्लेषण

: १ :

## स्वामीजी के जीवन की पृष्ठ-भूमिका

—आरोप और उसका हेतु—

स्वामीजी पर जो सबसे बड़ा आरोप लगाया जाता है, वह यह है: “उन्होंने भगवान महावीर के वचनों को उल्टा दिया। उन्होंने जैन-शास्त्रों से प्रतिकूल आचार-विचार का प्रचार कर एक विचित्र और अजीब मतको स्थापना कर दी। वे एक ऐसे मतवाद के सृष्टा हैं जिसका मेल दुनियाँ के किसी धर्म के साथ नहीं खाता। उनके मतवाद में जैनधर्म का लवलेख भी नहीं।” पर जब हम स्वामीजी के विचारों पर धीरे-धीरे ध्यान देते हैं तो उपरोक्त आक्षेपों में सत्य का अंश भी नहीं दिखाई देता। वास्तव में, स्वामीजी ने किसी नये धर्म की स्थापना नहीं की, उन्होंने जैन-धर्म का ही उद्धार किया।

जैनधर्म आध्यात्मिक सस्कृति-प्रधान एक महान् धर्म है। आत्मिक उन्नति ही उसका परम लक्ष्य है। गहरे तत्त्वज्ञान का वह महान् भण्डार है। आत्म-विकास के उसमें अपूर्व साधन हैं। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप इन चार साधनों पर ही उसकी नींव डाली हुई है। एक समय था, जब यह धर्म अपनी चरमोन्नति पर था। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, राजकीय सत्ताओं में परिवर्तन उपस्थित हुए और उसके साथ-साथ अन्य धर्मों ने जोर पकड़ा वैसे-वैसे जैन-धर्म की अवनति होती गई और ऐसे विचारों को अपनाना जरूरी समझ लिया गया, जो जैन-धर्म के मौलिक न होते हुए भी जमाने के विरोध से बचाव पाने के लिए अक्षय कवच से मालूम दिए। विचारों के साथ-साथ आचार में भी समय-समय पर परिवर्तन और शिथिलता आई और अन्त में सैकड़ों वर्षों के बाद जैन-धर्मके आचार-विचार का ऐसा स्वरूप बन गया जो उसके आदि और मूल स्वरूप से सर्वथा भिन्न पड़ता था। जब

स्वामीजी का एक म्हातिकारी आदर्श साधु के रूप में प्रादुर्भाव हुआ तब जैनधर्म की प्राय ऐसी ही अथ पतित अवस्था थी। स्वामीजी ने जैन-धर्मके पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया। आठ बष के दीर्घ और गम्भीर शास्त्रीय चिन्तन और मनन के बाद उन्होंने शुद्ध जैन-धर्म को प्राप्त कर उसे जनता के सम्मुख रखा। सैकड़ों बषों से एक खास प्रकारकी विचार-धारा की आदी जनता इस अदभुत प्रकाश को कैसे सहन करती? आचार-विचार में शिथिल गुरु-परम्पराका स्वाथ स्थिति-बालकता में ही था। स्वामीजी की विचार धाराको जैन-धर्म की असली—आदि भाव धारा स्वीकार करना उनके लिए जैसे अपने गौरव को मिट्टी में मिलाना था। सम्मान-अपहरणकी भावना महाभय को पैदा किए हुए थी।

जब सैकड़ों, हजारों बषों के बाद कोई महापुरुष पैदा होकर हमें शुद्ध-जीवन का संदेश देता है, तो हम एकाएक उसे सहन नहीं कर सकते। उस समय अपनी भूलको स्वीकार करना सबसे बड़ी घातक भूल बालम देती है। हम इसी बात को सिद्ध करने में आब जाते हैं कि हमसे कोई मूल हुई ही नहीं, हम सत्पथ पर ही हैं। हमारा तर्क होता है कि हमारी आचार विचार धारा बही है जो परम्परा से चली आ रही है। अमुक तो एक नई और विचित्र बात को लेकर आया है जो हमारी अच्छी पुरानी परम्परा को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहता है। इस तरह खायी नेता उस शुद्ध प्रकाशमयी विचार धारा की लगती हुई नवीनता को ही विरोध का एक जबरदस्त शस्त्र बना लेते हैं और प्राचीन के प्रति मोह-भावना को जागृत कर नवीन के प्रति विरोध का दावानल छुलगा देते हैं। स्वामीजी के प्रति भी ठीक ऐसा ही हुआ। उनकी शुद्ध—जैन धर्ममयी—विचार-धारा को नवीन और विचित्र शब्दों से घोषित कर उनके प्रति विरोध का तीव्र दातावरण पैदा कर दिया गया। भावकों को धर्म के असली तत्व नहीं बतलाए जाते थे। आचार और विचार में जो शिथिलता आ गई थी उसे द्रव्य, क्षेत्र बाल और भाव की अनुवर्ती बतलाकर गनकान्तवदी जैन-धर्म की विशिष्टता सिद्ध कर दी जाती थी। अपने अस्तित्व और



प्रभाव को कायम रखनेकी स्वार्थपूर्ण भावना ने ही स्वामीजीके मतको एक विचित्र मत के रूपमें अंकित करवाया और उन्हें 'निन्दव', 'एक नये पीर', और 'एक नये पैगम्बर' की उपाधि दिलवाई ।

### —संस्थापक नहीं उद्धारक—

पर स्वामीजी न कोई नये पीर थे, न कोई पैगम्बर । वे एक महान् सेवक थे । मानो वे जैन-धर्म की सेवा करने के लिए ही जन्मे हों । उनके जीवन का एक-एक पल इस धर्म के उद्धार के लिए लगा । वे तो जैसे भूले हुए सन्देश को याद कराने के लिए ही आए हों । वे एक भूली हुई चीज की ताजी स्मृति थे । वे स्वयं दीप-शिखा नहीं परन्तु बुझती हुई दीप-शिखा के प्राण थे । जैन-धर्म के दुभते हुए चिराग में उन्होंने अपना जीवन-स्नेह अर्पित कर उसे पुनः प्रज्वलित किया । वे एक वृषक नहीं, कृपि-रक्षक थे । उन्होंने खेत को उजड़ने से बचाया और उसे हराभरा रखा । ऐसी हालत में स्वामीजी को 'नये पीर' और 'नये पैगम्बर' की उपाधि देकर कोई उनका उपहास भले ही करे, परन्तु वह वास्तविक परिस्थिति को सामने नहीं रखता ।

स्वामीजी जैन-धर्म के अनन्य भक्त थे । भगवान के वचनों के वे अद्वितीय पुजारी थे । जिन-वचनों में उन्हें अगाध श्रद्धा थी । वे जगह-जगह कहते हैं—  
 “जिन भगवानका धर्म सौटच सोना है ।” “भगवान की शरण में महती शक्ति है ।” “भगवान का मार्ग राजमार्ग है । वह कोई पगडडी नहीं, जो बीच ही में रुक जाय । वह तो सीधा मोक्ष का मार्ग है ।” “जो जिन-आज्ञाके बाहर धर्म बतलाते हैं, वे अधेरे को सूर्य-प्रकाश कहते हैं ।” “जैन-धर्म” के प्रति ऐसी उदार मनोभावना रखनेवाले महापुरुष किसी नये धर्म के प्रचार की कल्पना ही कैसे कर सकते ? उन्होंने एक पैगम्बर की तरह कभी नहीं कहा कि दुनियाके लिए उनके पास एक नया सदेश है । उन्होंने कभी घोषणा नहीं की कि दुनिया को उन्हें एक नई देन देनी है । परन्तु उनकी पुकार एक उद्धारक की पुकार थी । वह एक

अतरंग सेवी की अन्तर्नाद थी। वे कहते—“भगवान के साधु और भावक कह-  
लाकर अनीति के मार्ग पर क्यों चलते हो ? भगवान के नामपर इस पाखंड और  
डोंगळा पोषण क्यों करते हो ? भगवान ने साधु उसे ही कहा है, जो आत्माकी  
साधना करे। प्रभु के अनुशासनानुसार स्वच्छ आचार-विचार का पालनकर आत्मिक  
उन्नति की साधनामें जीवन बिताओ। भगवान का आश्रय बड़ा उदार है। उसकी  
शरण में आकर अनीति नहीं करनी चाहिए।”

गीताका ‘संस्थापनार्थाय नहीं ‘उत्थानाय’ ही उनके लिए ठीक बैठता है। वे  
एक उद्धारक थे, संस्थापक नहीं। उनके जीवन का कार्य सज्जन नहीं—उत्थान  
था। स्वामीजी के जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटी हैं जो साफ प्रगट करती हैं  
कि उन्होंने कोई नई कल्पना नहीं की। किसी नई विचार धारा व धर्म का सज्जन  
नहीं किया परन्तु जैन-धर्म की मौलिक आचार और विचार धाराको पुनः जीवित कर  
उसमें नव-चेतना का संचार किया। हम यहाँ ऐसी कुछ घटनाओंका उल्लेख करते  
हैं

### —अन्तर-भाषना के स्फुट चित्र—

स्वामीजी के अनुयायी साधु और भावकोंकी सख्या गुरु-गुरु में केवल तेरह थी  
इसलिए उनके अनुयायियों का नाम “तेरा\*पंथी” रर दिया जाता है। स्वामीजी जब  
यह सुनते हैं तो कहते हैं —‘ हे प्रभु ! हमें तो तेरा ही भाग अच्छा लगता है,  
इसलिए हम भले ही ‘तेरापंथी’ कहलाए। हमारा माग तेरा माग नहीं है तो  
किसका मार्ग है ?’ नाम-संस्करण की यह घटना स्वामीजी के जीवनकी पृष्ठ-भूमिका  
पर कितना सु-दर प्रकाश डालती है ! भगवान की भक्ति में वे किन्ने भीने हुए हैं,  
जैन-धर्म उन्हें कितना अच्छा लगता है— इसका स्फुट चित्र इस घटना में है।

दुसरी घटना इस प्रकार है —स्वामीजी जनतामें जैन-धर्म के असली स्वरूप को  
फँटाना चाहते हैं परन्तु नव-दीक्षा के बाद उन्हें बड़ा कठ अनुभव होता है। लोग  
\*—‘तेरह’ शब्द का भारतीय पर्यायवाची शब्द ‘तेरा’ है।

इतने पथभ्रष्ट हो चुके हैं कि शुद्ध-जीवन का उपदेश भी उन्हें असह्य होता है। श्रोता के बिना धर्म किसको सुनाया जाय ? ऐसी हालत में जैन-धर्म के उद्धार का कार्य स्वामीजी को असंभव-सा लगने लगता है। उनके हृदय में निराशा की-सी लहर छा जाती है और धर्म-प्रचार के विचार से मन मोड़, वे मौन चिन्तन—आत्म-साधना—करने लगते हैं। इस निराशा के समय वे एक ढाल जोड़ते हैं जिसे 'जैन-धर्म के बिले की ढाल' कहते हैं। इस ढालमें भगवान महावीर की स्तुति करते हुए स्वामीजीने उसके शोपांगमें अपनी आत्म-वेदना को भगवान महावीरके सम्मुख इस प्रकार रक्खा है :—

“भगवन् ! आज भारत में कोई केवलज्ञानी नहीं। १४ पूर्व का ज्ञान आज विच्छेद हो चुका। आज कुबुद्धि कदाग्रहियों ने जिन-धर्म में बड़ा अन्तर डाल दिया है। उच्च राजा-महाराजा जैन-धर्म छोड़ चुके हैं। आज तो साधु के भेषमें केवल पाखड़ है। हे प्रभु ! आज जैन-धर्म बड़ी विपदा में है। आज इस धर्म के अनुयायियों में एक भी राजा नहीं। आज तो केवल ज्ञान-रहित भेषकी श्रद्धा हो गई है। इन भेष-धारियों की भिन्न-भिन्न श्रद्धा है और भिन्न-भिन्न आचार। ये द्रव्य लिंगी हैं—भेष से साधु हैं। इन नाममात्र के साधुओं ने अपनी पेट-पूति के लिए अन्य दर्शन और धर्मों की शरण ले ली है। इन्हें किस तरह सुमार्ग पर लाया जाय ? ये तो परस्पर ही श्रद्धा—आस्था—को उठाते फिर रहे हैं। इनकी श्रद्धा—विचार धारा—का कोई सिर-पैर नहीं। जब इन्हें न्यायकी बात कही जाती है तो परस्पर भगड़ते रहने पर भी एक होकर भूठ बोलने लगते हैं। इन्हें विपरीत—अष्ट-साष्ट बोलने में जरा भी संकोच नहीं होता।

‘ हे प्रभु ! आपने उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप को ही मुक्ति का मार्ग बतलाया है। मैं इन बातों के सिवा और किसी में धर्म नहीं मानता। मैं तो अरिहत भगवान ही को देव, निर्प्रान्थ गुरु ही को गुरु और आप केवली भगवान द्वारा बतलाए धर्म को ही धर्म समझना हूँ। मेरे लिए और सब भ्रमजाल

है। मैं इन तत्वों को ही सच्चा समझना हूँ और उन्हीं का शरणार्थी हूँ। इन तीन तत्वों में ही आपकी आज्ञा है और आपकी आज्ञा को ही हे प्रभु! मैं प्रमाण मानता हूँ। मेरी आत्मा इन्हीं भावनाओं से धर्म-ध्यान में रम रही है। आपकी आज्ञा-पालन में मुझे परमानन्द है। हे प्रभु! मेरे तो आप ही आचार हैं और सुनों—आपके वचनों—ही की मुझे प्रतीति है।”

उपरोक्त उद्गारोंमें भगवान के प्रति स्वामीजी की अनन्य भक्ति—अगाध भक्ता उछलें मार रही हैं। मीराबाई कहती है—“मेरे तो गिरधर गोपाल और दूसरो न कोई।” स्वामीजी कहते हैं “मुझे तो भगवान महावीर ही का आधार है और किसी का नहीं।” मीराबाई कृष्ण की अनन्य भक्त थी, वैसे ही स्वामीजी भगवान महावीर के अनन्य भक्त थे। उन्हीं की शरण उन्हें प्रिय थी और उन्हींका मार्ग। उनके लिए त्रिन-प्राज्ञा ही धर्म की कौटो और उसका पालन ही जीवनका परमानन्द था।

### यह आकर्षण क्यों ?

काली अंधेरी रातमें से उदाका उदय होता है, उसी तरह स्वामीजीके जीवन की निराशा में से आशा का संचार हुआ। धीरे धीरे उनके आचार-विचार का प्रभाव बढ़ता गया और कुछ वर्षों के बाद उनके अनुयायियों की संख्या भी काफी हो गयी। अब स्वामीजी से, जगह-जगह के लोग, आ-आकर अपने २ गाँव पधारने की, विनितियाँ करने लगे।

एक बार बिहार करते-करते स्वामीजी केलना नामक गाँव पधारे। वहाँ के टपुुर मोहकमसिंहजी स्वामीजी के दर्शन करने आए। धन-परिपक्व लगी हुई थी। उन्होंने जनता के सामने ही स्वामीजी से प्रश्न किया—‘स्वामीजी! आपके पास गाँव-गाँवकी प्रायःसर्व आती हैं। आप को सभी स्थानों के लोग चाहते हैं। स्त्री-पुरुष सब को आप प्रिय हैं। आपको देखकर उनके हृदय का पाएदार नहीं रहता। आपमें ऐसा कौन सा गुण है, जिससे यह आकर्षण है ?’

और प्रवाह उस पवत की ऊँचाई और पीछे के जल-समूह पर निर्भर करता है, जिससे वह बहिर्भूत होता है, उसी तरह स्वामीजी मानते थे कि उनकी सफलता प्रतिष्ठा और सन्मान—सब कुछ भगवान् के धमकी महत्ता और उसकी अनुपमता पर ही आधारित है। वे एक पुजारी थे—पुरोहित थे—जो सब कुछ भगवान् के चरणों पर भँड कर चुके थे। भगवान् महावीर ही स्वामीजीके आराध्य देव थे और उनको आज्ञा का पालन ही उनके जीवनका श्वासोच्छ्वास। मानो वे अहर्निश प्रार्थना करते थे:

“मेरे जीवन में दो बातें न घट—भगवान् की आज्ञाके बाहरके कार्यों में उद्यम और भगवान् की आज्ञा के कार्यों में आलस्य।”

### अन्तिम समय के दो स्फुट चित्र

स्वामीजी ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपने शिष्यों को जो धम-प्रवचन दिया, उसका सार हम पंछे दे आए हैं। स्वामीजी अपने अन्तिम प्रवचन में भी जिन आज्ञा के अशुभ पालन का उपदेश देना नहीं भूलो जिन-आज्ञाको लोप कर स्वच्छन्द विचरोवाला के लिए मध्यमें कोई स्थान नहीं—इस बातको अन्तिम उपदेश में भी अपने शिष्यों के हृदय पर अंकित कर देना वे अपना परम कर्तव्य समझते हैं। एक आर उहे इस जीवन का छोर—अंत दिखाइ दे रहा है और दूसरो ओर व कहते हैं—“मेरे मनमें परमानन्द है। मैं पूर्ण आत्मिक समाधि का अनुभव कर रहा हूँ। अब मेरे मनमें कोई बात नहीं रही। इस परम गतोप ओर आत्म समाधिक कारण उनके—“म जिन-शासन का उद्धार कर सका उसे उन्नत कर सका—शब्दां में साफ प्रस्तुत होता है।

जिन भगवान् की आज्ञा ने

ज किंचु रक्ष्यमाणे आउरनेमम अप्यगो ।

तन्मथ अतरा विष्य मिकरं मिकरनेज्जा पहिए ॥

“जब अपनी आयु का क्षय-काल दिखाई दे तो पहले से ही संलेपना-रूप शिक्षा को ग्रहण करें।”

स्वामीजी को मालूम होने लगा की उनका शरीर ढीला पड़ गया है। उनके मनमें अधिक दिन जीनेका भरोसा नहीं रहा। अपने शरीरकी यह दशा देखते ही जैसे उन्हें उपरोक्त आज्ञाका स्मरण हो आया। वे मृत्यु का सामना करने के लिए तुल गये—अपश्चिम मरणान्तिक संलेपना की तैयारी में लग गये। अतमें भक्त-परिज्ञा—अन्नपानी दोनों का त्याग कर स्वेच्छा से जीवनको शरीरसे अलग कर दिया। एक मृत्युञ्जय योगी की तरह देह-त्याग कर जिन-आज्ञा की आराधना की।

भगवान की आज्ञा उनके लिए कितनी महान् चीज थी। जिन-आज्ञाका पालन पहले होना चाहिए—जीना पीछे। जिन-आज्ञा के अनुसार जीना हो सके तो ही जीना चाहिए - यह उनके जीवनका महान् सूत्र था। अपने समग्र जीवनमें उन्होंने इस सूत्र और सिद्धान्तको अखण्ड और अक्षुण्ण रखा। भगवानने कहा है—“कायस्स वियाघाए संगामसीसे वियाहिए”—“स्वेच्छा देहत्याग सग्राम का सबसे बड़ा मोरचा है।” स्वामीजीने इस मोरचे पर भी विजय प्राप्त की। “अवि हम्ममाणे फलगाययट्ठि कालोवणीते, कंखेज्ज कालं जाव सरीर भेओ” “अतकाल में अकम्पित रह, एक काष्ठ के टुकड़े की तरह शांत अचल रहकर शरीर-पात पर्यंत प्रसन्न चित्तसे मृत्यु-कालको प्रतीक्षा करे।” स्वामीजी के अंतिम जीवन पर दृष्टिपात करने वाले देख सकेंगे कि उन्होंने इस आज्ञा को किस तरह शिरोधार्य किया। स्वामीजी का देहावसान अनशन और शान्त ध्यान-मुद्रा में हुआ।

और प्रवाह उस पर्वत की ऊँचाई और पंछे के जल-संग्रह पर निर्भर करता है वितरते वह बहिर्भूत होता है, उसी तरह स्वर्नजी मानते थे कि उनकी सफलता प्रतिष्ठा और सम्मान—सब कुछ भावान् के धनकी महत्ता और उनकी अनुमति पर ही आधारित है। वे एक पुजारी थे—पुरोहित थे—जो सब कुछ भगवान् के चरणों पर मँड कर चके थे। भावल महानोर ही स्वर्नजीके आराध्य देव थे और उनकी आज्ञा का पालन ही उनके जीवनका द्वासोच्छ्वस। मानो वे अहनिदा प्रार्थना करते थे:

“मेरे जीवन में दो बातें न घटें—भावल की आज्ञाके बाहरके कर्मों में उद्यम और भगवान् की आज्ञा के कर्मों में आलस्य ।

### अन्तिम समय क दो सूत्र चित्र

स्वर्नजी ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपने शिष्यों को जो धर्म-प्रवचन दिया उनका सर हम पंछे दे आए हैं। स्वर्नजी अपने अन्तिम प्रवचन में भा जिन-अज्ञ के अशुभ पतन का उद्देश देना नहीं भूलते जिन-अज्ञको लोभ कर स्वच्छन्द विचारावली के विरु मयनों को स्थान नहीं—इस बातके अन्तिम उद्देश में भी अपने शिष्यों के हृदय पर अक्षिप्त कर देना वे माना परन्तु कष्टना समझते हैं। एक और टहें इस जीवन का छोटे-अध दिल्द द रहा है धर दूनरे और व कहत हैं—‘मेरे मनमें परमनन्द है। मैं पूर्ण अन्तिक सम-धिका अनुभव कर रहा हूँ। धर मेरे मनमें कोई बाध नहीं रही। इस परम श्रोत्र और अन्ध-मन-विद्य करण उनके—‘मैं जिन-दान्त का उद्धार कर सका उसे उर्वलित कर सका’—शब्दों में सक प्रस्तुति होता है।

जिन भावनका आज्ञा :

ज किंचुवक्रम जाने आन्तरेमम अप्पगा ।

मस्मथ अतरा दिप्य मिक्त्त मिक्त्तेज्जा पहिए ॥

“जब अपना आयु का अय-काल दिखाई दे तो पहले से ही संलेपना-रूप जिज्ञा को ग्रहण करे।”

स्वामीजी को मालूम होने लगा की उनका शरीर ढीला पड़ गया है। उनके मनमें अधिक दिन जीनेका भरोसा नहीं रहा। अपने शरीरकी यह दशा देखते ही जैसे उन्हें उपरोक्त आज्ञाका स्मरण हो आया। वे मृत्यु का मामला करने के लिए तुल गये—अपञ्चिम मरणान्तिक संलेपना की तैयारी में लग गये। अतमें भक्त-परिजा—अन्नपानी दोनों का त्याग कर स्वेच्छा से जीवनको शरीरसे अलग कर दिया। एक मृत्युञ्जय योगी की तरह देह-त्याग कर जिन-आज्ञा की आराधना की।

भगवान की आज्ञा उनके लिए कितनी महान् चीज थी। जिन-आज्ञाका पालन पहले होना चाहिए—जीना पीछे। जिन-आज्ञा के अनुसार जीना हो सके तो ही जीना चाहिए— यह उनके जीवनका महान् सूत्र था। अपने समग्र जीवनमें उन्होंने इस सूत्र और सिद्धान्तको अखण्ड और अश्रुण्ण रखा। भगवानने कहा है—“कायस्स विद्याघाए संगामसीसे विद्याहिए”—“स्वेच्छा देहत्याग सग्राम का सबसे बड़ा मोरचा है।” स्वामीजीने इस मोरचे पर भी विजय प्राप्त की। “अवि हम्ममाणे फल्लगावयट्ठि कालोचणीते, कंखेज्ज कालं जाव सरीर भेओ” “अंतकाल में अकम्पित रह, एक काष्ठ के टुकड़े की तरह शांत अचल रहकर शरीर-पात पर्यंत प्रसन्न चित्तसे मृत्यु-कालको प्रतीक्षा करे।” स्वामीजी के अंतिम जीवन पर दृष्टिपात करने वाले देख सकेंगे कि उन्होंने इस आज्ञा को किस तरह शिरोधार्य किया। स्वामीजी का देहावसान अनशन और शान्त ध्यान-मुद्रा में हुआ।



जिहाँ आप तणी आगन्या नवि

ते करणी छै जाबक जबून हो ॥ स्वा० हू० ॥

“जिसने आपकी आज्ञा और मौनको पहचान लिया उसने आपको भी पहचान लिया। उसकी अधम गति टल गई।

जिसने आपकी आज्ञा और मौन को नहीं पहचाना, उसने आपको भी नहीं पहचाना। उसके अधम-योनि का बध होगा।

आप अवसर देखकर बोले। आपने अवसर देखकर मौन धारण किया। जिस कार्य में आपकी आज्ञा नहीं वह बिल्कुल जघन्य है।”

—धर्म-अधर्म का नीर-क्षीर विवेक—

एक ढाल में स्वामीजी ने बतलाया है कि किन किन कार्यों में जिन-आज्ञा है और किन-किन में नहीं। जिन कार्यों में स्वामीजीने जिन-आज्ञाको प्रमाणित—सिद्ध किया है, उनमें से एक भी कार्य आपको विचित्र या अजीब नहीं दिखाई देगा और न जिन कार्योंमें स्वामीजीने आज्ञाका अभाव बतलाया है, उनमें कोई ग्रहणीय। स्वामीजी को अच्छी तरह समझा जा सके, इसलिए हम उस ढाल का भावार्थ यहाँ देते हैं :

१—संसार में कार्य दो प्रकार के हैं; एक अधर्म कार्य और दूसरे धर्म कार्य। धर्म कार्यों में जिन भगवान की आज्ञा है। अधर्म कार्यों में नहीं है। परमार्थ में जिन-आज्ञा है, अनर्थ में जिन-आज्ञा नहीं।

२—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार मोक्ष मार्गों में भगवान की आज्ञा है इनके विपरीत कु ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपमें नहीं।

३—सर्व व्रत और देश व्रत, जो क्रमशः साधु और श्रावक के धर्म हैं, उनमें जिन-आज्ञा है। व्रतों के उपरांत जो अधर्म—पाप—है उसमें जिन-आज्ञा नहीं।

४—सर्व मूल-गुण और सर्व उत्तर-गुण तथा देश मूल-गुण तथा देश उत्तर-गुण—इन सब गुणों में जिन-आज्ञा है। गुणहीनता में आज्ञा नहीं।

५—सवर के वीस भेद, जिनसे नए कर्मों का संचार रहता है, और निर्बरर,

बारह भेद जिनसे सचित कर्म ऋद्धकर दूर होते हैं, जिन-आशा में हैं। सवर और निजरा क सिवा सत्र कन्य सावय—गपपूण—हैं और उनमें आशा नहीं है।

६—धमधन और शुक्रध्यान भगवान की आशा में हैं; आर्त और रौद्र—ये दो हेय ध्यान आशा में नहीं।

७—शुभ परिणाम और शुभ अध्यवसाय आशमें हैं; दुरे परिणाम और दुरे अध्यवसाय नहीं।

८—सेजो पत्र और शुद्ध ये तीनों शुभ लेख्याएँ आशा में हैं। कृष्ण, नील और कापोत ये अशुभ लेख्याएँ आशा में नहीं।

९—मन-वचन-काया के शुभ योग—व्यापार—में जिन-आशा है। दुरे योगों में नहीं।

१०—मन वचन और काया से त्रिविध हिंसा न करने को दया कहा है और सुपात्र को देना दान। दया और दान—मोक्ष के इन दो भागों में भगवान की आशा है। हिंसा और कुदान में नहीं।

११—उपकार दो प्रकार के हैं। एक आत्मिक उपकार और दूसरा सांसारिक उपकार। आत्मिक उपकार में आशा है। सासारिक उपकार में नहीं।

१२—अरिद्वंद्व भगवान को देव कहा है। निग्रथ साधु को गुरु और केवली भगवान द्वारा मापित सिद्धान्तों का धर्म। शुद्ध देव, गुरु और धर्म की आराधना में जिन-आशा है। कुदेव, कुगुरु और अधर्म की आराधना में नहीं।

१३—चार बातें भगल रूप हैं, चार बातें उत्तम और चार बातें शरणरूप। इनमें प्रभु की आशा है। इनके सिवा कोई बात भगल, उत्तम और शरणरूप नहीं। और उनमें जिन-आशा नहीं।

१४—संयम प्रज्ञाचय, कल्प्य आचार, धमकिया, सम्यक्त्व सन्तोष और सन्त्याग में जिन-आशा है। उनके विपरीत असंयम, कुशाल, अकल्प्य आचार अशान पापक्रिया मिथ्यात्व, अबाध और सन्त्याग में जिन-आशा नहीं है।

भगवान ने कहा है—“आणाए मामग धम्म”—“मेरा धर्म मेरी आज्ञा में है।” स्वामीजी ने भी कहा है “भगवान का धर्म भगवान की आज्ञा में है उसके बाहर नहीं।” स्वामीजी ने भगवान की आज्ञाओं का जो लघुतम निकाला वह ऊपर दिया गया है। इस भावार्थ का विस्तृत अर्थ यह है—“अहिंसा, सत्य, अचोरी, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह—ये पाँच महाधर्म हैं। अकपाय—क्रोध, मान, माया, लोभ को जीतना और अराग-अद्वेष—राग-द्वेष को जीतना धर्म है। सत्वोद्योग प्राप्त करना और व्रतादि के ग्रहण से आत्मा को सयम में लाना धर्म है। त्याग में, इन्द्रिय जयमें—विषयों के जीतने में—धर्म है। दया में धर्म है, मोह में नहीं। शुद्ध दान में धर्म है, असंयम, प्रमाद, दीनभाव, और पुरुषार्थ हीनता के पोषण में नहीं।”

कोई भी सच्चा जैनी अपने हृदय पर हाथ रखकर कहे कि स्वामीजी के इन विचारों में क्या कहीं कोई भ्रूल है ? क्या कोई ऐसी बात है जो जैन-धर्म के अगौरव की है अथवा उसकी समस्त विशेषताओं को प्रगट नहीं करती ? अगर ऐसी बात नहीं है तो उनकी विचार-श्रेणी विचित्र कैसे ? उसे अजीब क्यों कहा जाय ? जो स्वामीजी को निन्दित और जिन-आज्ञाका विरोधक कहते थे उनसे स्वामीजी का केवल एक ही प्रश्न था—“सच्ची श्रद्धा और सच्ची क्रिया इनमें भगवान की आज्ञा है। मैं भी इनमें धर्म समझता हूँ। ऐसा कोई कार्य बतलाओ जो इनके अन्तर्गत है और जिसमें मैं धर्म नहीं मानता। यदि ऐसा कोई कार्य नहीं बतला सकने तो मेरे पर निन्दित होनेका—उत्सृष्ट-प्रत्यक्ष होनेका आगेप लगाना निगधार है।”

इन सब उद्गारों के होते हुए भी यदि कोई स्वामीजी के धर्म को आधुनिक और उनको ‘भुला भटका’ समझे तो यह उसकी भ्रान्ति है। यदि कोई अमृत को विष समझने लगे तो यह अमृत का दोष नहीं, समझने वाले की बुद्धि का ही विषयांस है।

## —जिन आज्ञा की महानता—

स्वामीजी जिन-आज्ञाको बड़ी महानता देते । जिन-आज्ञा की पहिचान करने पर जोर देते । उन्होंने एक जगह कहा है :

जिन-शासन में आज्ञा बड़ी, ओलखै ते बुद्धिमान  
ज्यां जिन-आज्ञा नबि ओलखी जीव छै विकल समान ।”

“जिन-शासन में जिन-आज्ञा सबसे बड़ी है । जो इसको समझ लेता है वह बुद्धिमान है । जो जिनेश्वर देव की आज्ञा को नहीं समझता वह मूर्ख है ।”

वे अन्यत्र कहते हैं—“जो प्रभु-आज्ञा को लोप कर स्वच्छन्दता से चलते हैं वे ज्ञानादिक धन से रहित होते हैं । साधु सदा इस बात का ध्यान रखे कि प्रभु द्वारा बताया हुआ धर्म ही उसके लिए प्रमाणिक है, अन्य धर्म नहीं ।”

इस तरह जोरदार ध्वनि उठाकर स्वामीजी ने जैनधर्म को पुनः प्राण प्रतिष्ठित करने का भगीरथ प्रयत्न किया । स्वामीजी की अखण्ड—अगाध—भद्रा एक हीरे की तरह दूर-दूर तक दिव्य प्रकाश डालती । वह तपाए हुए सोने की तरह शुद्ध और निमल थी । उसमें शत्रु सरस उज्वलना थी । उसमें इस्पात की सी दृढ़ता थी जो मारतौल के टुकड़े २ कर देती पर जो स्वयं न छचकती, न धुइती और न टूटती थी । इस अखण्ड—अद्विग—भद्राके कारण ही वे जैन-धर्म का उद्धार कर उसे पुनः जीवित कर सके ।

हम पहले ही कह आए हैं कि समय के प्रवाह से और अनेक तरह के प्रत्याघातों के कारण जैनधर्म छिन्न विछिन्न हो गया था । लोग ऐसी बातों को जैनधर्म की अंगभूत मानने लगे थे जो उसकी अपनी नहीं पर विकृतियां थी । इन विकृतियों में धर्म मानने वालों की स्वामीजी बड़ी कड़ी आलोचना करते ।

एक बार स्वामीजी पंचमी समिति के लिए—शौच निवृत्ति के लिए गाँव बाहर जा रहे थे । रास्तेमें हीरविजय नामक एक जैन यती स्वामीजी के साथ हो लिया । रास्तेमें वह स्वामीजी से तरह २ के सवाल करने लगा । वह कहता था :—

“ ( १ ) हिंसा में पाप नहीं यदि मनुष्य सम्यक्दृष्टि हो । सम्यक्दृष्टि को पाप नहीं छूता । ( २ ) जीवों को मारने से संसार-भ्रमण नहीं बढ़ता, न जीवों की रक्षासे घटता ही है । होनहार है सो ही होता है । ( ३ ) केवल-ज्ञानियों ने देखा है उस समय मोक्ष पहुँच जायँगे इसलिए क्रियाकी कोई आवश्यकता नहीं ।” रास्ते चलते बात करना ठीक न समझ स्वामीजी मौन थे । स्वामीजी को मौन देखकर श. “मालूम होता है आपको भी हमारे सिद्धान्त पसन्द आए हैं । शायद ! उत्तर नहीं देते ?” स्वामीजी अब चुप नहीं रह सकते थे । वे पैर धामकर

काग निमोली में रति करे  
भण्डसूरा ने विस्टो आवै दाय  
ज्यों काग भण्डसूरा जेहवा मानची  
रिम्हे आह्वा वाहरली करणी मांय !

‘ कौधा पेड़ से गिरि हुई निमोली में रति करता है और भण्डसूर को भिष्टा लगता है । कौवे और भण्डसूर की श्रेणी के जो मनुष्य हैं, उन्हें ही जिन-के बाहर के कार्यों में आनन्द आता है ।”

यह कहकर स्वामीजी बोले—“मैं तो इन सिद्धान्तों को भिष्टा तुल्य समझता हूँ । सिद्धान्तों के लिए मेरे मनमें स्वप्न में भी कोई स्थान नहीं । मैं तो केवल जैन को ही अच्छा समझता हूँ ।”

स्वामीजी की आत्मा, एक स्वामिभानी राजहस की तरह, जैनधर्म रूपी विशाल नसरोवर पर विहार करती और उसकी सुभाषित मुक्ताओं पर ही गुजर करती ।

भगवान ने कहा है :—

जे अणन्नदंसी से अणणारामे  
जे अणणारामे से अणन्नदंसी ।

जे परमार्थदर्शी होता है वह अनन्य विभ्रामी होता है और जो अनन्य विभ्रामी होता है वही परमार्थ दर्शी है ।' इस पदमें केवली भाषित धर्ममें अडिग--स्थिर भाव को ही परमार्थदर्शी अथ परम लक्षण बतलान्या है । स्वामीजी में एक परमार्थदर्शी की अडिग-निश्चल-भ्रष्टा थी । यहाँ हम स्वामीजी को ढालों के कुछ पद देते हैं जिन्हें पाठकों को भाव्यम होगा कि जैन धर्म के प्रति स्वामीजी की भ्रष्टा कितनी निश्चल थी और जिन-आज्ञा के विपरीत कर्मों में धर्म मानने के प्रति कितना तीव्र विरोध ।

आज्ञा में धर्म छै जिनराजरो

आज्ञा बारे कहै ते भूढ़ रे ।

विवेक विकल शुद्ध बुद्ध बिना,

ते बूढ़े छै कर कर रुढ़ रे ॥

श्री जिन धर्म जिन आगन्या तिहाँ,

बजलो धर्म छै जिनराज रो,

ते तो श्री जिन आज्ञा सहित रे ।

मुगत जावा अजोग अशुद्ध कसो,

ते तो जिन आज्ञा स्यू विपरीत रे ॥श्री॥

आज्ञा सूं सकै ते धर्म म्हारो,

एहवो चिन्तवै साधु मन मांच रे ॥

आज्ञा दिन करवो जिहाहि एहो,

रुड़ो बोलवो पिण नवि थाय रे ॥श्री॥

हू कहि-कहि नै कितरो कहूं,

आगन्या बारे नहीं धर्म मूल रे ।

आगन्या बारे धर्म कहै तेहना,

भ्रष्टा कण बिना जाणो धूल रे

“भगवान का धर्म उनकी आज्ञाओं में है। आज्ञाके बाहर जो धर्म बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं। उनमें न विवेक है, न शुद्ध बुद्धि। तो वे रुढ़िमें पड़े डूबे जा रहे हैं।

जिनराज का धर्म बढ़ा उज्वल है। वह आज्ञासे प्रमाणित है।

साधु अपने मन में सोचा करे— ‘भगवान की आज्ञा से प्रमाणित धर्म ही मेरा धर्म है। आज्ञा रहित कर्तव्य करना तो दूर रहा उसे अच्छा कहना भी मुझे शोभा नहीं देता’।

मैं कह-कह कर कितना कह सकता हूँ ? आज्ञा के बाहर जरा भी धर्म नहीं। जो आज्ञा के बाहर धर्म कहते हैं उनकी श्रद्धा धूलकी तरह निस्तार है।

स्वामीजी ने जिन-धर्मको उज्वल धर्म कहकर उसे कितना उच्च स्थान दिया है। जिन आज्ञा को ही जैनधर्म की कसौटी बतलाया है। जिन-वाणी की आराधना ही स्वामीजी के जीवनकी सबसे बड़ी साध थी। जिन-आज्ञा रहित कार्य को वे अधम से अधम समझते थे।

केई जिण आज्ञा वारे धर्म कहै

जिण आज्ञा माहे कहै पाप हो। स्वा०।

ते दोनूँ विघ वूड़ा छै वापड़ा

कूड़ो कर-कर अज्ञानी विलाप हो। स्वा०॥

“कई आपकी आज्ञा के बाहर धर्म बतलाते हैं और आप की आज्ञाओं में पाप। वे मूर्ख भूठा विलाप कर दोनों तरफ डूब रहे हैं।”

वे फिर कहते हैं :

वाप विन वेटो निश्चै हुवे नहीं

ज्यु जिण आज्ञा विना धर्म न होय ॥ भ० ॥

जिन आज्ञा होसी तो जिन-धर्म छै

आज्ञा विन धर्म न होय ॥ भ० श्री० ॥

मां विन वेटारो जन्म हुवै नहीं

जन्मे ते वांम न होय ॥ भ० ॥

“जे परमार्थदर्शी होता है वह अनन्य विधायी होता है और जो अनन्य विधायी होता है वही परमार्थ दर्शी है । इस पदमें केवली भाषित धर्ममें अडिग—स्थिर भाव को ही परमार्थदर्शी का परम लक्षण बतलाया है । स्वामीजी में एक परमार्थदर्शी की अडिग-निश्चल-भ्रष्टा थी । यहाँ हम स्वामीजी की कालों के कुछ पद देते हैं जिनसे पाठकों को मालूम होगा कि जैन धर्म के प्रति स्वामीजी की भ्रष्टा कितनी निश्चल थी और जिन-आज्ञा के विपरीत कर्मों में धर्म मानने के प्रति कितना तीव्र विरोध ।

आज्ञा में धर्म छै जिनराजरो

आज्ञा बारे कहै ते मूढ़ रे ।

विवेक विकल शुद्ध बुद्ध बिना,

ते मूढ़े छै कर कर रूढ़ रे ॥

श्री जिन धर्म जिन आगन्या तिहाँ,

उजळो धर्म छै जिनराज रो,

ते तो श्री जिन आज्ञा सहित रे ।

मुगत जावाँ अजोग अशुद्ध कस्यो,

ते तो जिन आज्ञा स्यूँ विपरीत रे ॥श्री०॥

आज्ञा सू सकै ते धर्म म्हारो,

एह्यो चिन्तवै साधु मन माँय रे ॥

आज्ञा बिन करवो जिहाँदि रस्यो,

रह्यो बोलवो दिण नवि थाय रे ॥श्री०॥

हू कहि-कहि ने कितरो कहूँ,

आगन्याँ बारे नही धर्म मूल रे ।

आगन्याँ बारे धर्म कहै तेहना,

भ्रष्टा कण बिना जाणो धूल रे



“भगवान का धर्म उनकी आज्ञामें है। आज्ञाके बाहर जो धर्म बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं। उनमें न विवेक है, न शुद्ध बुद्धि। तो वे रुढ़िमें पड़े डूबे जा रहे हैं।

जिनराज का धर्म बड़ा उज्वल है। वह आज्ञासे प्रमाणित है।

साधु अपने मन में सोचा करे— ‘भगवान की आज्ञा से प्रमाणित धर्म ही मेरा धर्म है। आज्ञा रहित कर्तव्य करना तो दूर रहा उसे अच्छा कहना भी मुझे शोभा नहीं देता।’

मैं कह-कह कर कितना कह सकता हूँ ? आज्ञा के बाहर जरा भी धर्म नहीं। जो आज्ञा के बाहर धर्म कहते हैं उनकी श्रद्धा धूलकी तरह निस्सार है।

स्वामीजी ने जिन-धर्मको उज्वल धर्म कहकर उसे कितना उच्च स्थान दिया है। जिन आज्ञा को ही जैनधर्म की कसौटी बतलाया है। जिन-वाणी की आराधना ही स्वामीजी के जीवनकी सबसे बड़ी साध थी। जिन-आज्ञा रहित कार्य को वे अधम से अधम समझते थे।

केई जिण आज्ञा बारे धर्म कहै

जिण आज्ञा माहे कहै पाप हो। स्वा०।

ते दोनूँ विध बूड़ा छै बापड़ा

कूड़ो कर-कर अज्ञानी विलाप हो। स्वा० ॥

“कई आपकी आज्ञा के बाहर धर्म बतलाते हैं और आप की आज्ञामें पाप। वे मूर्ख झूठा विलाप कर दोनों तरफ डूब रहे हैं।”

वे फिर कहते हैं :

बाप विन वेटो निश्चै हुवै नहीं

ज्यु जिण आज्ञा विना धर्म न होय ॥ भ० ॥

जिन आज्ञा होसी तो जिन-धर्म छे

आज्ञा विन धर्म न होय ॥ भ० श्री० ॥

मां विन वेटारो जन्म हुवै नहीं

जन्मे ते वांम न होय ॥ भ० ॥

“ज परमाथदर्शी होता है वह अनन्य विधामी होता है और जो अनन्य विधामी होता है वही परमार्थ दर्शी है । इस पदमें केवली भाषित धर्ममें अडिग--स्थिर भाव को ही परमार्थदर्शी का परम लक्षण बतलाया है । स्वामीजी में एक परमाथदर्शी की अडिग-निश्चल-धृद्धा थी । यहाँ हम स्वामीजी की ढालों के कुछ पद देते हैं जिनसे पाठकों को मालूम होगा कि जैन-धर्म के प्रति स्वामीजी की धृद्धा कितनी निश्चल थी और जिन-आज्ञा के विपरीत कर्मों में धम मानने के प्रति कितना तीव्र विरोध ।

आज्ञा में धर्म छै जिनराजरो

आज्ञा बारे कहै ते मूढ़ रे ।

विवेक विकल शुद्ध बुद्ध बिना,

ते बूढ़े छै कर कर रूढ़ रे ॥

श्री जिन धर्म जिन आगन्या तिहाँ,

इजलो धर्म छै जिनराज रो,

ते तो भी जिन आज्ञा सहित रे ।

मुगत जावा अजोग अशुद्ध कसो,

ते तो जिन आज्ञा स्युं विपरीत रे ॥श्री॥

आज्ञा सूं सकै ते धर्म म्हारो,

पहवो चिन्तवै साधु मन माँय रे ॥

आज्ञा विन करवो जिहाहि रह्यो,

रुडो बोलवो पिण नवि थाय रे ॥श्री॥

हू कहि-कहि ने कितरो कहूँ,

आगन्यां बारे नहीं धर्म मूल रे ।

आगन्यां बारे धर्म कहै तेहना,

धट्टा कण बिना जाणो घूल रे

“भगवान का धर्म उनकी आज्ञामें है । आज्ञाके बाहर जो धर्म बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं । उनमें न विवेक है, न शुद्ध बुद्धि । तो वे रुठिमें पड़े डूबे जा रहे हैं ।

जिनराज का धर्म बड़ा उज्वल है । वह आज्ञासे प्रमाणित है ।

साधु अपने मन में सोचा करे— ‘भगवान की आज्ञा से प्रमाणित धर्म ही मेरा धर्म है । आज्ञा रहित कर्तव्य करना तो दूर रहा उसे अच्छा कहना भी मुझे शोभा नहीं देता’ ।

मैं कह-कह कर कितना कह सकता हूँ ? आज्ञा के बाहर जरा भी धर्म नहीं । जो आज्ञा के बाहर धर्म कहते हैं उनकी श्रद्धा धूलकी तरह निस्सार है ।

स्वामीजी ने जिन-धर्मको उज्वल धर्म कहकर उसे कितना उच्च स्थान दिया है । जिन आज्ञा को ही जैनधर्म की कसौटी बतलाया है । जिन-चाणी की आराधना ही स्वामीजी के जीवनकी सबसे बड़ी साध थी । जिन-आज्ञा रहित कार्य को वे अधम से अधम समझते थे ।

केई जिण आज्ञा बारे धर्म कहै

जिण आज्ञा मांहे कहै पाप हो । स्वा० ।

ते दोनूँ विध बूड़ा छै बापड़ा

कूड़ो कर-कर अज्ञानी विलाप हो । स्वा० ॥

“कई आपकी आज्ञा के बाहर धर्म बतलाते हैं और आप की आज्ञामें पाप । वे मूर्ख भ्रूठा विलाप कर दोनों तरफ डूब रहे हैं ।”

वे फिर कहते हैं :

बाप विन वेटो निश्चै हुवै नहीं

ज्यू जिण आज्ञा बिना धर्म न होय ॥ भ० ॥

जिन आज्ञा होसी तो जिन-धर्म छै

आज्ञा विन धर्म न होय ॥ भ० श्री० ॥

मां विन वेटारो जन्म हुवै नहीं

जन्मे ते वांझ न होय ॥ भ० ॥

ज्यू जिन-आज्ञा बिना धर्म हुवै नहीं  
 जिन-आज्ञा तिहीं पाप न कोय ॥ भ० श्री० ॥  
 गद्य पखी ने चोर दोनू भणी  
 गमती लागे अभारी रात ॥ भ० ॥  
 ज्यू भारी कर्मा जीव तेहने  
 जिन-आज्ञा बाहर लो धर्म सुहात ॥ भ० श्री० ॥  
 चोर परदारा सेवण कुशीलिया  
 ते तो सेरी जोवै दिन रात ॥ भ० ॥  
 ज्यू आज्ञा वारै धर्म अदायवा  
 उन्धी करै अज्ञानी बात ॥ भ० श्री० ॥  
 दुष्ट जीव मजारी ने चितरा  
 छल सू करे पर जीवा री घात ॥ भ० ॥  
 पहवा दुष्ट मिथ्र अद्वारा घणी  
 छलसू घालै विकलारे मिथ्यात ॥ भ० श्री० ॥  
 विगरायल हुवां न्यात वारे करै  
 ते विगरायल फिरै न्यात बहार ॥ भ० ॥  
 तेहवो धर्म जिन-आगन्या वार लो  
 तिणमें कदै मत जाणो मली वार ॥ भ० श्री० ॥  
 न्यात वारै त न्यात माहे नहीं  
 तिण ने नवि वै साणै एक पात ॥ भ० ॥  
 ज्यू जिन आज्ञा बिना धर्म अजोग छै  
 कीघां पूरीजै नहीं मन खात ॥ भ० श्री० ॥  
 श्री जिन आगन्यां विन करणी करै  
 ते तो दुरगत रा आगीवाण ॥ भ० ॥

जिन आज्ञा सहित करणी करे

तिणसूँ पामै पद निर्वाण ॥ भ० श्री० ॥

“जिस तरह निश्चय ही वाप बिना वेटा नहीं हो सकता, उसी तरह जिन-आज्ञा बिना धर्म नहीं होता। जिन-आज्ञा है तब ही जिन धर्म हैं। जहाँ जिन-आज्ञा नहीं वहाँ जिन-धर्म भी नहीं।

मा बिना वेटे का जन्म नहीं होता। जो वेटे को जन्म देती है वह वाफ़ नहीं हो सकती। उसी तरह जिन-आज्ञा बिना धर्म नहीं हो सकता और जहाँ जिन-आज्ञा है वहाँ कोई पाप नहीं हो सकता।

थुग् पक्षी और चोर को अघेरी रात अच्छी लगती है उसी तरह कर्मों से भारी बने जीवों को जिन-आज्ञाके बाहरका धर्म अच्छा लगता है।

जिस तरह चोर और जार दिन-रात फाक देखते रहते हैं उसी तरह अज्ञानी आज्ञा बाहर धर्म में विश्वास पैदा कराने के लिए बकवाद करते रहते हैं।

वित्री और वित्तो जैसे घातक जीव जैसे छल से घात करते हैं उसी तरह दुष्ट-कर्मों और विपरीत श्रद्धावाले मनुष्य छलसे अज्ञानी मनुष्यों के मिथ्यात्व वैठा देते हैं।

जिस तरह भ्रष्ट हुए मनुष्यको जातके बाहर कर दिया जाता है और वह विरादगी के बाहर भटकता है, उसी तरह भगवान की आज्ञा के बाहर भ्रष्ट धर्म है। उसमें जाने वाले को कभी अच्छाई नहीं हो सकती।

जो जाति बाहर होता है वह विरादरी के सामिल नहीं होता और उसे कोई अपनी पातमें नहीं बैठाता, उसी तरह जिन-आज्ञा रहित धर्म अयोग्य होता है। ऐसे धर्म को माननेवाला मोक्षार्थियों की श्रेणी में नहीं आ सकता। जिन-आज्ञाके बाहर के धर्म के आचरणसे मनकी इच्छा फलीभूत नहीं होती।

जो जिन-आज्ञा रहित कार्य करते हैं, वे दुर्गति के अग्रणी हैं। जिन-आज्ञा के कार्य करने से ही निर्वाण-पद मोक्ष की प्राप्ति होती है।”

स्वामीजी के उपरोक्त उद्धरणों से साफ प्रगट है कि स्वामीजी के जीवन की एक

एक पल जिन-आज्ञा की आराधना के लिए न्यौछावर थी। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन जिन-आज्ञा की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए अर्पित कर दिया। जिन-शासन के अनन्य भक्त और पुजारी को जैन धर्म का द्रोही और निन्द्य घोषित करना सब की निमम हत्या है।

जयाचार्य ने ठीक ही कहा है —

धर्म आज्ञा वारे धारने

मेपधार्या माण्डो भ्रम जाल। सुज्ञानी रे।

थिर नीव आज्ञा भिक्षू थापने

वारु जिन वच थाप्या विशाल ॥ सुज्ञानी रे ॥

अद्दा दुर्लभ देवा कही

“जिन-आज्ञा के बाहर धर्म बतला कर मेपधारियों ने भ्रम जाल खड़ा कर रक्खा था। स्वामीजी ने जिन-आज्ञा रूपी थिर नीव पर जैन धर्म रूपी विशाल भवन की पुनः स्थापना की।”

श्रीमद् जयाचार्य ने इन थोड़े से शब्दों में स्वामीजी के जीवन की पृष्ठ भूमिका पर सुन्दर प्रकाश डाला है—स्वामीजी के जीवन के साने बाने का सुक्ष्म चर्चाटन कर दिया है। वास्तव में स्वामीजी के जीवन का समूचा ढाँचा जिन-आज्ञा हरी रीढ़ के बल खड़ा है। जैसे समुद्र का पक्षी जहाज के मस्तूल के चारों ओर उड़ा करता है और मस्तूल पर ही अपना आश्रय-स्थल देखता है उसी तरह स्वामीजी जैन धर्म रूपी मस्तूल के इर्द गिर्द चक्कर लगाते और जिन-आज्ञा प्रमाणित धर्मको ही अपनी आत्माका विधाम स्थल मानते।

उन्हें हृद आस्था थी ‘वीर्य’कर आप्तित सद्वर्त्म द्वीप तुल्य है। जिस तरह द्वीप पर उठरने वाला प्राणी समुद्र के जलसे नहीं छुआ जाता उसी तरह जिन-आर्पित धर्म को क्षरण लेनेवाला पाप से नहीं छुआ जा सकता।”

जीवन ब्यापी मनन और चिन्तन के बाद उनकी अनुभव वाणी है

“केवली भाख्यो धर्म मंगलीक छै  
ओहिज उत्तम जाणरे—  
शरणो पिण ल्यो इण धर्म रो  
तिणमें श्री जिन-आज्ञा प्रमाण रे।”

“केवली भगवान का कहा हुआ धर्म ही मंगल है। वही उत्तम है। इसी धर्म की शरण लो। जैनधर्म जिन-आज्ञासे प्रमाणित है।”

स्वामीजी के जीवन की विरासत इस अनुभव वाणी में संक्षिप्त है। यही उनके जीवनकी अमोलक देन है।

\* \*  
\*

मय पुञ्ज थे। एक तेज सूर्य की तरह—उनकी आत्मा एक दिव्य चैतन्यता की—  
एक अद्भुत ज्ञान-ज्योति की—अखण्ड और जाज्वल्यमान मूर्ति थी। वे दुनिया के  
लिए एक दिव्य नेत्र थे—खोई हुई दृष्टि और खोया हुआ जीवन-पथ देने वाले—  
एक प्रकाश-स्तंभ। उन्होंने दिन-दिन अधिक उद्योत करते हुए अज्ञानांधकार को  
मिट्टा, घट-घट में ज्ञान की ज्योति प्रखलित की। वे एक महान् उद्योतकारी महा-  
पुरुष थे।

वे एक महान् क्रांतिकारी भिक्षु थे। केवल विनाश के नहीं पर विनाश और  
विकाश दोनों के प्रतीक। वे भय-भैरव भी थे और शीतल मेघ वर्षा भी। ढोंग  
और पाखण्ड के लिए वे भयंकर भैरव थे और शुद्ध-जीवन के लिए मेघ की शीतल-  
धारा। विशुद्ध आचार-विचार को पोषण देकर उन्होंने उसे हरा-भरा किया और  
पाखण्ड और त्रिधिलाचार को चुनौती देकर उसे दब-दग्ध-सा कर दिया। वे एक  
केसरी पुरुष थे और महान् संत पुरुष भी। उनमें सिंह का-सा पौरुष और सिंह  
की-सी दहाड़ थी पर साथ ही उनके प्रवचनों में जीवन का रस और भावों में सन्त-  
वाणी का अमर प्रवाह था। वे अपने जमाने के महा भयंकर पुरुष भी कहलाए  
और एक महान् आध्यात्मिक संत भी।

अन्तर-भेदी दृष्टि—जिसके सामने गढ़ता टिक नहीं सकती, आशु प्रज्ञा—जो  
चक्राचौध जानती नहीं, दूरदक्षिता—जो स्खलित नहीं होती—ये उनके जीवन के  
सहज गुण थे। वे एक महान् दूरदर्शी प्राज्ञ चक्षु साधु थे।

धी से सींची हुई निर्धूम अग्नि की तरह निर्मल ज्ञान, ध्रुव की तरह निश्चल श्रद्धा  
और स्फटिक की तरह स्वच्छ चरित्र इनके वे महान् पवित्र सगम थे। श्रीमद्-  
जयाचार्य कहते हैं—“स्वाम जिसा चौथे आरे पिण, विरला संत विचार”  
“चौथे आरे में भी स्वामीजी से संत विरले होंगे।” जो स्वामीजी के जीवन का गहरा  
अध्ययन करेंगे उन्हें जयाचार्य के शब्दों में शुद्ध सत्य ही मिलेगा।

वे एक महान् धनुश्चि अणगार थे—जो जैन तत्त्वज्ञान और आध्यात्म के गूढार्थ—



एक सजीव वृहद् टीका थे जो बुद्धिमान बहुभुति होने पर भी महान् स्थिर प्रज्ञावान थे और जिन्होंने विचार उच्चार और आचारमें केवल ध्रुव जिन वक्तों को ही स्थान दिया था।

वे एक महान् धर्माचार्य थे—जिनमें आचार्य की आठों सम्पदा एक साथ स्पर्श करतीं। वे एक महान् मर्यादा पुरुषोत्तम थे, जिन्होंने आध्यात्मिक-जीवन का महान् सेतु बांधा; जिनका कठोर अनुशासन—“ब्रह्मादपि कठोरानि” की उपमा को चरितार्थ करता था, जिन्होंने पग-पग पर जीवन-सूत्र दिए, जीवन-पथ दिया—निर्मल विवेक और सूक्ष्म उपयोग दिया।

वे छिन्न-भिन्ना में महान् समूह की कल्पना, स्वच्छदता में एकात्मक सत्ता की प्रत्यक्षा तथा संघ और संयोजक शक्ति के एक महान् केन्द्र थे। एक महान् व्यवस्थापक, महान् निर्णायक महान् संचालक तथा प्रबुद्ध और प्राणामी नेता थे।

वे एक महान् तपस्वी थे—जिन्होंने कष्ट और विपदाओं की परवाह नहीं की—भूख और प्यास को नहीं गिना—परन्तु जो एक ही तमन्ना से, एक ही धैर्य से, एक ही साहस और एक ही रस से जीवन भर जिन-शासन के उद्धार का कार्य करते रहे। वे जिन-शासन के एक महान् उद्धारक थे जिनका त्याग और बलिदान अरनी सानी नहीं रहता। उनकी साधना एक योगी की अक्षय्य साधना थी, जिसमें न विराम था, न क्षिणिकता न मन्दता पर जो एक अविरल प्रवाह की तरह निरन्तर बहती थी।

एक महान् तत्वज्ञानी—जो गूढ़ को सरल कर देते एक महान् आध्यात्मिक संत—जो आत्मिक-भावनाको एक स्रोतस्विनी बहा देते जीवन-काव्यके एक ओजस्वी कवि—जो जीवनमें चेतना भर देते—एक महान् धमकयी और हृत्पान्ति—जो देखते-देखते अन्तर दृष्टि-उन्मय कर देते—वे एक ऐसे ही संस्कार-सम्पन्न सांस्कृतिक महापुरुष थे जिनके व्यक्तित्वमें एक अद्भुत सजीवता एक अद्भुत आकर्षण और एक अद्भुत प्रतीभा थी।

वे दया, अहिंसा और साम्यभाव की साकार मूर्ति थे जिनकी दृष्टि में छोटे-बड़े का कोई अन्तर नहीं था, जो एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय में केवल इन्द्रिय और शरीर आदि का ही अन्तर समझते, परन्तु आत्मिक दृष्टि से किसी भेद की कल्पना नहीं करते थे। जिन की तुला में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव के प्राणों की भी उतनी ही कीमत थी, जितनी कि दुर्लभ मनुष्य के जीवन की। जिन्होंने आपेक्षिक कीमत के झूठे और अन्यायपूर्ण तरीके को कभी प्रश्रय नहीं दिया पर मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावनाको पुनःस्थापित कर जिन-भाषित अहिंसाका सूक्ष्म विवेक जाग्रत किया। अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए उनका दुर्धर्ष संग्राम—उनका आजीवन व्यापी गंभीर संघर्ष जिन-शासन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा।

महा ऋषि, महा माहण, महा गोप, महा जितेन्द्रिय, महा तपस्वी, महा स्वाध्यायी, महा आत्म-ज्ञानो, महा दार्शनिक, महा तार्किक, महा कवि, महा अध्यापक, महा उपदेष्टा, महा प्राज्ञ, महा पुरुषार्थी, महा धृतिवान, महा श्रद्धाशील, महा साहसी— वे क्या नहीं थे, जिसमें वे महान् नहीं थे? वे एक अद्भुत व्यक्तित्वके धारक महान् पुरुष थे, जिनमें आत्मा और मस्तिष्क के सब गुणों ने महान् विकास पाया था।

लोग कहेंगे तुम भावना में वह गए—एक अतिरजित चित्र खींच दिया। परन्तु हम कहेंगे हमने स्वामीजी के असीम व्यक्तित्व को सीमा बद्ध कर दिया, जो हमने उनको अमुक-अमुक कह दिया। कवि सूर्य की अशेष राशियों को गिन नहीं सके इसलिए उसे सहस्र रश्मि कह दिया। हमने भी स्वामीजी को अमुक-अमुक दिशाओं में ही महान् कहकर अपनी असमर्थता को ही प्रगट किया है। अन्यथा स्वामीजी एक असीम व्यक्ति थे— एक अमाप्य पुरुष थे— जिनके सम्बन्ध में जयाचार्य की निम्न-लिखित गाथा ही ठीक बैठती है.—

“आशा पूरण आप तणा गुण, कहा कठा लग जाय ।  
सागर जल गागर किम मावै, किम आकाश मिणाय ॥”

एक सजीव वृहद् टीका थे जो बुद्धिमान बहुश्रुति होने पर भी महान् स्थिर प्रज्ञावान थे और जिन्होंने विचार उच्चार और आचारमें केवल ध्रुव जिन बचनों को ही स्थान दिया था।

वे एक महान् धर्माचार्य थे—जिनमें आचार्य की आठों सम्पदा एक साथ स्वर्षा करतीं। वे एक महान् मर्यादा पुरुषोत्तम थे, जिन्होंने आध्यात्मिक-जीवन का महान् सेतु बांधा; जिनका कठोर अनुशासन—“वज्रादपि कठोरानि” की उपमा को चरितार्थ करता था जिन्होंने पग-पग पर जीवन-सूत्र दिए जीवन-पथ दिया—निर्मल विवेक और सूक्ष्म उपयोग दिया।

वे छिन्न-भिन्नता में महान् संगठन की कल्पना, स्वच्छता में एकात्मक सत्ता की प्रत्यक्षा तथा संघ और संयोजक शक्ति के एक महान् केन्द्र थे। एक महान् व्यवस्थापक, महान् निर्वाहक महान् संचालक तथा प्रबुद्ध और प्राणामी नेता थे।

वे एक महान् तपस्वी थे—जिन्होंने कष्ट और विपदाओं की परवाह नहीं की—भूल और प्यास को नहीं गिना—परन्तु जो एक ही तपस्ना से, एक ही धैर्य से, एक ही साहस और एक ही रस से जीवन भर जिन-शासन के उद्धार का क्रय करते रहे। वे जिन-शासन के एक महान् उद्धारक थे, जिनका त्याग और बलिदान अपनी सानी नहीं रहता। उनकी साधना एक योगी की अखण्ड साधना थी जिसमें न विराम था, न शिथिलता न मन्दता पर जो एक अविरल प्रवाह की तरह निरन्तर बढ़ती थी।

एक महान् तत्वज्ञानी—जो गूढ़ को सरल कर देते एक महान् आध्यात्मिक सत—जो आत्मिक-भावनाको एक द्योतस्विनी बहा देते जीवन-काव्यके एक ओजस्वी कवि—जो जीवनमें चेतना भर देते—एक महान् धमकयी और दृष्टान्तिक—जो देखते-देखते अन्तर दृष्टि-उन्मेष कर देते—वे एक ऐसे ही सत्कार-सम्पन्न साक्षुणिक महापुरुष थे जिनके व्यक्तित्वमें एक अद्भुत समीपता, एक अद्भुत आकषण और एक अद्भुत प्रतिभा थी।

वे दया, अहिंसा और साम्यभाव की साकार मूर्ति थे जिनकी दृष्टि में छोटे-बड़े का कोई अन्तर नहीं था, जो एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय में केवल इन्द्रिय और शरीर आदि का ही अन्तर समझते, परन्तु आत्मिक दृष्टि से किसी भेद की कल्पना नहीं करते थे। जिन की तुला में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव के प्राणों की भी उतनी ही कीमत थी, जितनी कि दुर्लभ मनुष्य के जीवन की। जिन्होंने आपेक्षिक कीमत के झूठे और अन्यायपूर्ण तरीके को कभी प्रश्रय नहीं दिया पर मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावनाको पुनःस्थापित कर जिन-भाषित अहिंसाका सूक्ष्म विवेक जागृत किया। अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए उनका दुर्धर्म संग्राम—उनका आजीवन व्यापी गंभीर संघर्ष जिन-शासन के इतिहास में स्वर्णक्षरों में अंकित होगा।

महा ऋषि, महा साहण, महा गोप, महा जितेन्द्रिय, महा तपस्वी, महा स्वाध्यायी, महा आत्म-ज्ञानो, महा दार्शनिक, महा तार्किक, महा कवि, महा अभ्यापक, महा उपदेष्टा, महा प्राज्ञ, महा पुरुषार्थी, महा धृतिवान, महा श्रद्धाशील, महा साहसी—वे क्या नहीं थे, जिसमें वे महान् नहीं थे? वे एक अद्भुत व्यक्तित्वके धारक महान् पुरुष थे, जिनमें आत्मा और मस्तिष्क के सब गुणों ने महान् विकास पाया था।

लोग कहेंगे तुम भावना में बह गए—एक अतिरजित चित्र खींच दिया। परन्तु हम कहेंगे हमने स्वामीजी के असीम व्यक्तित्व को सीमा बद्ध कर दिया, जो हमने उनको अमुक-अमुक कह दिया। कवि सूर्य की अशेष राशियों को गिन नहीं सके इसलिए उसे सहस्र रश्मि कह दिया। हमने भी स्वामीजी को अमुक-अमुक दिशाओं में ही महान् कहकर अपनी असमर्थता को ही प्रगट किया है। अन्यथा स्वामीजी एक असीम व्यक्ति थे—एक अमाप्य पुरुष थे—जिनके सम्बन्ध में जयाचार्य की निम्न-लिखित गाथा ही ठीक बैठती है:—

“आशा पूरण आप तणा गुण, कहा कठा लग जाय।  
सागर जल गागर किम भावै, किम आकाश मिणाय ॥”

: ३ :

## एक महान् आदर्शवादी साधु

स्वामीजी का जन्म उस समय हुआ था, जब जैन-धर्म प्रायः मरणासन्न हो अन्तिम सांसे गिन रहा था। उस समय के जैनियों में न सिद्धान्त-बल बचा था और न आचार—चारित्र्य बल हो। दोनों मूली-गाजर की तरह बिक्री किए जा रहे थे। साधु और भ्रातृक दोनों एक पीढ़ी बैठ चुके थे। छद्म भेषियों की करवतों से शुद्ध साधुत्व और भ्रातृत्व दोनों रास्ते लगा चुके थे। भेषधारी साधु अपनी मनमानी कर रहे थे। धर्म के नाम पर उन्होंने भ्रातृकों को छूटने का धन्या खड़ा कर रक्खा था। शुद्धाचार का नाम लेने से वे काल—जमाने का बहाना लेकर कहते—“इस धारे—काल में शुद्धाचार का पूरा-पूरा पालन नहीं हो सकता।” शुद्धाचार का पक्ष लेकर कोई खड़ा होता तो उसका गला घोटने की कुत्से की आती थी। स्वामीजी ऐसे ही समय में एक धन्वन्तरि वैद्य की तरह उत्पन्न हुए। उन्होंने मरणोन्मुख जैन धर्म को अमृत-घूँट पिला, मया जीवन-दान दिया। सध के जीर्ण-शीर्ण शरीर में नवीन जीवनी-शक्ति पैदा की। अपने उच्चकोटि के आदर्शमय जीवन द्वारा समाज में धार्मिक जीवन के पवित्र आदर्श को पुनः प्रतिष्ठापित कर उसकी असली कीमत को परखा, भूले-भटके जन-समाज को फिर से सन्मार्ग पर लगाया।

स्वामीजी का सिद्धान्त—“फल-फल पवित्र जीवन” था। अपने साधु-जीवन में उन्होंने अपने इस सिद्धान्त की निरन्तर साधना की और इसे कभी आंच न आने दी।

“जादुज्जीवम विस्वामो गुणार्णं तु महम्भरो”—“इस वृत्ति में विधाम कहाँ ? साधु-जीवन में जादुज्जीवन गुणों का महा भार उठाना पड़ता है।”

यह पद स्वामीजी के लिए महान् उपदेशपद था । कंखे गुणें जाव सरীর भैरु—“आत्मज्ञ शरीरपात पर्यन्त गुणों की उपासना करे”—भगवान की यह आज्ञा उनके जीवन का अमर सूत्र बन गया था ।

स्वामीजी चरित्रहीन साधु और क को पोली—खाली मुट्टी का साथी कहा करते । उनका कहना था:—“जैसे कोई हवा के सन्मुख होकर घड़ी (चक्की) चलाने बैठता है तो वह ज्यों-ज्यों पीसता है त्यों-त्यों आटा उड़ता जाता है और उसका सारा परिश्रम व्यर्थ होता है, ठीक उसी तरह जो व्रत और प्रत्याख्यान लेकर दृढ़ भावना से उनका पालन और गोपन नहीं करता, जान-बूझकर दोष सेवन करता है और प्रायश्चित्त नहीं करता, उसका सारा करा-कराया व्यर्थ जाता है ।” “जिस तरह चरवाहा गायों का रक्षक होता है, उनका मालिक नहीं, उसी तरह जो चारित्र्य का पालन नहीं करता, वह केवल भेष का बोझ ढोनेवाला होता है । वह आत्मार्थ नहीं साध सकता ।” इस बात को वे रात दिन साधुओं और श्रावकों के समक्ष रखते और उन्हें पवित्र जीवन की प्रेरणा देते । चारित्रिक स्वच्छता पर स्वामी कितना जोर दिया करते थे—यह उनके जीवन की निम्नोक्त घटना के सूक्ष्म अवलोकन से स्पष्ट हो जायगा :

एक वार स्वामीजी से किसी ने कहा—“बहुत लोग आपके पीछे पड़े हुए हैं । वे आपके दोष निकालते रहते हैं ।” स्वामीजी बोले :“यह तो अच्छा ही है, भले ही निकालें । अवगुण तो निकालने—दूर करने के ही होते हैं, रखने के नहीं । कुछ हम निकाल रहे हैं और कुछ वे निकाल देंगे । हमें तो आत्मा उज्ज्वल करनी है ।” स्वामीजी आत्मगवेषी थे अतः अनुचित बात को भी उचित रूप में लेते । जब कोई उनमें दोष निकालता तो वे तुरन्त ही अन्तर-दृष्टि डालते । दोषों की तालिका उनके लिए अन्तरशुद्धि की तालिका हो जाती । “समा निन्दापसंसासु तहा माणाव माणओ”—निन्दा और प्रशंसा, मान और अपमान—सब में सम-भाव—यह उच्चादर्श उनके जीवन का सहज

सिद्धान्त हो गया था ।

एक बार स्वामीजी ने अपने परम शिष्य बालक साधु भारीमास्त्री से कहा “हे भारीमाल ! यदि कोई तुम में दोष निकाले तो तीन दिन का उपवास करना होगा ।” ऋषि भारीमास्त्री बोले : “स्वामीनाथ ! ये तैले ( तीन दिन के उपवास ) तो रोज ही करने पड़ते दिखाई देते हैं क्योंकि दोषी बहुत हैं । उनके लिए दोष मढ़ना तो एक सहज बात है ।” इस उतर को सुन कर स्वामी जी ने जो गम्भीर बात कही वह उनकी अन्तर भावनाओं पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालती है । स्वामीजी बोले “यदि कोई सच्चा दोष निकाले तो उस दोष-सेवन से लगे पाप की शुद्धि के लिए दण्ड-स्वरूप तैला करना होगा और यदि कोई झूठ-मूठ—व्यर्थ ही दोष निकाले तो अशुभ कर्मों का उदय समझ उसके नाश के लिए तैले की तपस्या करनी होगी ।” ये निदक के प्रति इसलिए उदारभाव रखते थे कि यदि वह सच्चा दोष बतलाता है तो आत्मगनेपी पुरुष के लिए मित्र समान होता है । यदि वह झूठ ही दोष बतलाता है तो कर्म-से-कर्म कर्मों के उदय की सूचना अवश्य देता है और उन कर्मों को समभाव और तपस्या आदि द्वारा क्षय करने का अवसर बतलाता है । सोने को शुद्ध करने के लिए जैसे उसे तीव्र आँच में तपाया जाता है, उसी तरह स्वामीजी अपनी आत्मा को शुद्ध करने के लिए उसे निरन्तर धम स्पी भट्टी में तपाया करते और अपने शिष्यों को भी वैसे ही शिक्षा देते ।

एक बार स्वामीजी पाडु शहर पधारे । साथ में हेम ऋषि भी थे । एक थाक हेम ऋषि की चर को हाथ में लेकर बोला “यह चर शास्त्रीय प्रमाण से खम्बी है ।” स्वामीजी ने तुरन्त चर को हाथ में ले उसकी कम्म्याई-चौकाई नाप दिखाई । वह शास्त्रीय प्रमाण के अनुसार थी । थाक शर्मिन्दा हुआ । वह बोला : “मुझे झूठ ही सा-देह हुआ ।” स्वामीजी गम्भीर होकर बोले “क्या तुम ने हम लोगों को इतना नादान समझ लिया है कि चार अंगुल कपड़े के लिए समय

जैसी सार वस्तु को खो देंगे ? हम गांत्रानुगांत्र विहार करते हैं, रस्ते में हमें कोई नहीं देखता, तब तो हम कच्चा जल भी पी लेते होंगे ? यह हमने कोई साधुपन का होंग नहीं रचा है । हमारी आत्मा ही हमारे सब्बे साधुत्व की माथी है । सतों के प्रति ऐसा भविष्य भविष्य में न करना ।” स्वामीजी और उनके सत इसी तरह आत्म-साथी पूर्वक शुद्ध चारित्र्य का पालन करते थे । स्वामीजी कहा करते : “धर्म आत्मा की वस्तु है । उसका पालन अन्तस्थल से होना चाहिये ।” “निरद्विया नरगरुह उ तस्स जे उत्तमद्वे विवयासमेह ।” उसकी निर्ग्रन्थ-कृति साधु-भाव निरर्थक है जो उत्तमार्थ में भी विपर्यास भाव को प्राप्त होता है । शस्त्र को उलटा पकड़ने से जैसे वह शस्त्रधारी की ही घात करता है, उसी तरह जो ग्रहण किए हुए धर्मका विपर्यास करता है, वह दुर्गति को प्राप्त होता है ।” मंत्रों के इन वचनों को वे साला की तरह हृदय में फेरते रहते और अन्तरभावना से धर्मका पालन करते ।

स्वामीजी को दृष्टि में धर्म कोई ‘आरामकृषी’ न थी, जिसपर बैठकर हम यदाकदा मन—बहलाव किया करें । वे इसे निरन्तर साधना की वस्तु समझते और कहा करते थे : “सुख में धर्म का पालन सरलता से हो सकता है, परन्तु वास्तव में कोई धार्मिक पुरुष है या नहीं, इसकी कसौटी तो विपत्ति-काल ही है ।”

किसी ने एक बार कहा—“कारण पड़ने पर—आपत्ति-काल में साधु अप्राशुक चोज भी ले सकता है, इसमें दोष नहीं । ऐसे मौके पर अशुद्ध वस्तु देने वाले धावक को ‘अन्य पाप, बहु निर्जर’ होती है ।” स्वामीजी ने कहा:—“गज पूत का लड़का यदि कायरतापूर्वक पोठ टिन्नाकर मंगाम-भूमि से भाग चले, तो उसे कौन बहादुर कहेगा ? राजा उसे पट्टे का—सुनद का भोग कैसे करेगा ? लोगों में उसको आवह क्या खाक रहेगी ? उसी तरह भगवान के पट्टे को—उनकी मुद्राको धारण करने वाले साधु यदि आपत्ति कालमें अशुद्ध ( अकल्प ) ले और देने वाले को अन्य-पाप बहु निर्जर बताये, तो न केवल हम लोक में, परन्तु परलोक



में भी उसकी आबरू मिट्टी में मिल जायेगी। कष्ट के समय अपने लिये हुए त्रुटों पर और अधिक भटल रहकर अपनी सच्चाई का परिचय देने की जरूरत है, न कि शिथिलाचार को ग्रहण कर झुंझ होने की।" वे कहते कि मुझ की घड़ी हो या तुझ की, घर्म तो प्रत्येक श्वासोच्छ्वास के साथ चलना चाहिये।

स्वामीजी का आन्तरिक-जीवन बड़ा निर्मल था। वह स्फटिक की तरह स्वच्छ था। साधु-जीवन की क्रियाओं का वे बड़े विवेक और उपयोग के साथ पालन करते। इसकी मांकी निम्नलिखित घटना से मिलेगी

एक बार ( महिला ) ने स्वामीजी से कई बार भिक्षा के लिये पधारने की प्रापना की। एक दिन स्वामीजी गोचरी पधारे। उन्हें देखकर वह बारें बहुत खुश हुईं। वह भिक्षा अर्पित कर ही रही थी कि स्वामीजी ने प्रश्न किया : "मादम पदता है, इसके बाद तुम्हें हाय धोने होंगे।" वह बोली—"हाँ। हाय तो धोने ही पड़ेंगे।" स्वामीजी ने पूछा—"हाय कब पानी से धोओगी या पक्के पानी से ? उसने उत्तर दिया—"गम जल से।" स्वामीजी ने फिर पूछा—"हाय कहाँ धोओगी ?" उसने बाली की ओर संकेत करते हुए कहा—"यहाँ पर।" स्वामीजीने पुनः पूछा—"यह जल कहाँ गिरेगा ?" उत्तर मिल्य—"यह तो भीचे गिरेगा।" इस पर स्वामीजी ने कहा—"यह जल गिरने से वायुकर्म आदि जैवों की दिशा होगी, इसलिए हमें आहार लेना नहीं कल्पता।" उसने कहा—"आप आहार देखकर लीजिये। हम गृहस्थ बाद में क्या करते हैं, उससे आपको क्या प्रयोजन ? अपनी सासारिक क्रिया को हम कैसे छोड़ें ?" स्वामीजी बोले—"बाद। यदि तू कर्म-बन्ध की हेतु अपनी तावय क्रिया को नहीं छोड़ सकती, तो रोटी के लिए मैं अपनी सच्ची-क्रिया को कैसे छोड़ूँ ?" यह कहकर वे—वहाँ से चले गये। गोचरी करते समय वे कितनी छान-बीन करते थे, इसकी कल्पना उपरोक्त घटना से की जा सकती है। वे आहार मिलने अपना न मिलने की कोई परवाह न करते थे। उनकी दृष्टि शुद्ध आचार पर रहती थी।

“भारण्ड पक्षीत्र चरे अपमत्ते” —भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमादपूर्वक जीवन-त्रया करना—यही उनके जीवन का उच्चादर्श था।

एक बार जब स्वामीजी आ० स्थनाथजी के सघ में थे, किसी दर्जीके घर गोचरी पधारे। दर्जी ने कहा : “आपका एक साधु कल हमारे यहां से गुड़ ले गया है, इसलिए आज आपको हमारे यहां भिक्षा नहीं कल्पनी।” स्वामीजी ने स्थानक वापस जाकर सबसे पृछा—“कल दर्जी के यहां से गुड़ कौन लाया ?” परन्तु किर्मः साधु ने ‘हाँ’ में उत्तर नहीं दिया। सब मौन रहे। स्वामीजी सब साधुओं को ले दर्जीके पास पहुंचे और उससे पृछा—“इनमें से कौन तुम्हारे यहां से गुड़ ले गया ?” तब उस दर्जी ने जयमलजी के सघ के बालक साधु रायचन्द्रजी की ओर संकेत किया। नूठ प्रगट होने से वह सबके सामने बड़ा गर्मिन्दा हुआ। स्वामीजी ने उस बात का निचोड़ इसलिये किया कि जिससे कोई साधु भविष्य में इस तरह चालाकी से काम लेने का दुस्साहस न करे। स्वामीजीको सत्य से बड़ा प्रेम था। वे नूठ को जग भी पसन्द नहीं करते थे।

एक बार गीया और पीपाड़ के बीच स्वामीजी को एक अन्य सम्प्रदाय का साधु मिला। वह स्वामीजी को एरान्त में ले गया। स्वामीजी को कुछ ढेर लगा। ऋषि हेमराजजी साथ में थे। वापस आने पर ऋषि हेमराजजी ने स्वामीजी से पृछा : “उस साधु से आप को क्या बातचर्चा हुई ?” स्वामीजी बोले : “उसने मेरे नामने आलोचना की—‘कौई आत्म-दोष स्वीकारा।’ हेमराजजी स्वामी ने फिर पृछा—“क्या ‘आलोचना’ की ?” स्वामीजी बोले : ‘एक की आलोचना दूसरे को बताना नहीं कल्पता।’”

कसौटी नहीं हो सकती। किसी ने पूछा : “आपका यह कठिन मार्ग कितने बय तक चलता दीखता है ?” स्वामीजी ने उत्तर दिया “जब तक साधु और साध्वियां भ्रष्ट-आचार में दृढ़ रहेंगे बस्त्र-पात्र-उपकरण आदि की मर्यादा का लोप—मग नहीं करेंगे और अपने लिए स्थानक नहीं बनायेंगे।” स्वामीजी शुद्धाचार को ही जीवन और जीवन-शक्ति समझते थे। शुद्धाचार को ही वे स्थिर नींव समझते थे—यह उपरोक्त प्रसंग से साफ-साफ प्रगट है। वे साधुओं को इन बातों में निरन्तर पवित्र रहने का उपदेश दिया करते थे।

स्वामीजी वृद्धावस्था में भी खड़े-खड़े ‘प्रतिक्रमण’ किया करते। यह देख कर किसी भावक ने एक बार कहा “स्वामीजी ! आपकी अवस्था अब पक चुकी है—आप बहुत वृद्ध हो चुके हैं, अब आप बैठे-बैठे ‘प्रतिक्रमण’ करें तो ठीक रहे। इतना कष्ट क्यों करते हैं ?” स्वामीजी ने उत्तर दिया “यदि मैं ही बैठ कर प्रतिक्रमण करूँ तो बाद में होने वाले साधु कहीं छेड़ कर प्रतिक्रमण करने लेंगे।” स्वामीजी किन्तुने अप्र-सोचो और आत्मायीं थे ! वे अपने भावी शिष्यों के लिये कितना उदात्त छोट गये—यह उपरोक्त घटनासे साफ प्रगट होता है।

स्वामीजी पवित्र जीवन के मुक्तिमान स्वरूप थे। स्वामीजी को पवित्रता—निर्मलता में बड़ा आनन्द और गौरव प्राप्त होता। यही कारण है कि वे सख्या बढ़ाने की ओर कभी नहीं झुके। पात्र दख कर दीक्षा देना—शिष्य बनाने के सम्यघ में शुरु से ही वनका यही सूत्र रहा। अपनी अन्तिम शिक्षा में भी उन्होंने अपने शिष्यों को यही अमोलक धरोहर छोड़ी

“जिण तिण रे णिण तिण ने मत मुद्धओ

दीक्षा दीप्यो दर-देख”

य कहा करते “जो जिण-णिण को मुग्ध कर खाने मत का बढ़ाने की दिक में रहते हैं, वे मुग्धहीन वेप को प्रोत्साहन देते हैं। वे साधु का स्वार्थ रच कर क्यों से विशेष भारी होते हैं।”

एक बार स्वामीजी ने दृष्टान्त दिया : “जिस तरह ज्वरदस्ती चित्ता पर चढ़ा कर बनाई हुई सती को अगर कोई वन्दना कर कहे : ‘हे माता ! मेरा तेजरा बुखार दूर करो’—तो वह क्या खाख बुखार मिटायेगी ? उसी तरह उदर-पूर्ति के लोभ से साधु-वेश धारण करने वालों से चारित्र-पालन की आशा करना आकाश-कुसुमवत् है । दीन-दयाल भगवान् ने चारित्र को महादुष्कर कहा है । वह जिस-तिस से नहीं पाला जा सकता ।”

स्वामीजी दीक्षा के विषय में कितने सतर्क थे, इस सम्बन्ध में हम यहां एक प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं :

किसी ने स्वामीजी से कहा : “मेरा दीक्षा लेने का विचार है—मुझे दीक्षा दीजिये ।” स्वामीजी बोले—“दीक्षा का विचार ठीक है, परन्तु वह महा दुष्कर कार्य है । तुम्हारे लिए यह कार्य कठिन है । तुम्हारा कच्चा मन कुटुम्बियों के मोह के आगे स्थिर नहीं रहता ।” यह सुन कर दीक्षार्थी बोला—“आप ठीक कहते हैं, सम्बन्धियों को रोते देखता हूँ तो आँसू तो आ ही जाते हैं ।”

स्वामीजी बोले : “जब दुल्हा बधू को लेकर ससुराल से विदा होता है तो उस समय दुलहन के ही अश्रुपात होता है । दुल्हा तो हर्षित ही रहता है । पीहर के मोहवश दुलहन का रोना स्वाभाविक ही होता है, पर यदि दुल्हा ही रोने लगे तो लोग क्या समझें ? तुम्हारे दीक्षा लेने के विचार से तुम्हारे कुटुम्बी-जनों का मोह विह्वल होना स्वाभाविक है, परन्तु तुम उनके प्रति मोह कैसे कर सकते हो ? तुम से सयम-भार नहीं उठ सकता । तुम दीक्षा के योग्य नहीं । जिसे ‘गिहंसि न रडं लभे’—घरमें जरा भी रति नहीं होती—जो ससार में जरा भी आनन्द नहीं पाता—वही दीक्षा के योग्य है ।”

सूत्रों में कहा है—“भिक्षु को सहस्रों गुण धारण करने पड़ते हैं । शत्रु मित्र—नारे जगन् से नमभाव रखना, अप्रमत्त रहकर मृपावाद से बचना, दन्त-शोधन की शली तक भी बिना टिए न लेना, उग्र व्रतचर्य का पालन करना,

सर्व परिग्रह से विरक्त रहकर ममत्व को दूर रखना, सूर्यास्त के पहले-पहले भोजन कर लेना और किञ्चित् भी भोजन-सामग्री का संचय नहीं रखना, भूख प्यास आदि के परिग्रह नैलेना—यह सब महा दुष्कर है। संयम लोह भार की तरह गुद है, बालू के कवल की तरह नीरस है, तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है तथा लोहे के चनों को चवाने के सदृश्य दुष्कर है।” स्वामीजी सश्रम को ऐसा ही दुर्धर समझते थे।

“तहा दुष्खल करेड जे, कीयेण समणत्तणं”—‘धमणत्व का पालन श्रौष से—सत्व हीन से नहीं हो सकता’—यह वचन स्वामीजी के हृदय में दृढ़ धब थे और इसी कारण से वे जो आ जाता उसी को मुण्डित नहीं कर लेते परन्तु पात्रापात्र का पूरा निर्णय कर ही दीक्षा देते थे। उन्हें पूरा विश्वास था कि “इह लोप निषिधासस्स नरिथ किञ्चित् दुष्करं”—‘निषिधासित—वैरागीके लिये इस संसार में कुछ भी दुष्कर नहीं’ और इसी कारण से वे वैरागी को—संसार से सच्चे उद सी को ही—दीक्षा के योग्य समझते थे।

वैरागी को संसार में आनन्द नहीं मिल सकता। जिसे संसार में रति है—आनन्द है वह वैरागी नहीं और जो वैरागी नहीं, जिसकी मोह-वृत्ति शान्त नहीं हुई उसके लिये संयम दुष्कर नहीं

जहा भुयाहिं तरिड, दुष्कर रयणायरो

तहा अणुवसन्तेणं, दुष्कर दम सागरो

जैसे रत्नाकर को मुजाभा से तैरना दुष्कर है, उसी तरह विषयों से अनुशान्त मनुष्य के लिये दम-रूप—संयम रूप महा सागर का तैरना दुष्कर है।

स्वामीजी ने इमी शास्त्रीक विचार संशो से उपरोक्त दीक्षार्थी को प्रश्रया देना अम्बीकार किया।

स्वामीजी जैसे दीक्षा देने के विषय में सतक रहते जैसे ही आचार में

ढिलाई देख कर वे किसी की खातिर नहीं करते थे। उनका स्पष्ट निर्देश था :  
 कोई दोषज रे, दोष लगावे गण मधे रे,  
 वली कर्मा वशे बोले कूड़ रे।  
 काणज रे काण मत राख जो केहनी रे  
 प्रायश्चित्त न लिए तो करज्यो दूर रे।”

अर्थ:—“यदि कोई दोष का सेवन करे, पूछने पर मूठ बोले और दोष का प्रायश्चित्त न ले तो उसे उसी समय गण से दूर कर देना। किसी की खातिर न करना। उसके अन्य गुणों की परवाह न करना।”

स्वामीजी शुद्धाचार को विद्वता से सदा उच्च स्थान दिया करते। आचार बिना की विद्वता को वे बिना धान के तुष की तरह निस्तार समझते थे और यही कारण था कि उन्होंने कई विद्वान पर गुणहीन शिष्यों को, उनकी विद्वता की जरा भी परवाह किए बिना, गण-च्युत कर दिया था।

जिन भाषित निम्नोक्त पदों का सार स्वामीजी अमृत-रस की तरह पान कर चुके थे :

इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पच्चक्खवाय पावगं  
 आयनियं विदित्ताणं, सव्वदुक्खवा विमुच्चई ।  
 भणंता अकरेन्ता य. वन्धमोक्खपईण्णिणो  
 वायाविरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं ।  
 न चित्ता तायए भाषा, कुओ विज्जाणुसासणं  
 विसण्णा पावकम्मोहिं, वालापंडिय माणिणो ।

अर्थ : “इस ससारमें कई ऐसा मानते हैं कि पाप द्वारों को रोके बिना ही—  
 पापों का त्याग किए बिना ही, केवल आचार को जान लेने से ही जीव सब दुखों से मुक्त हो जाता है ।

ज्ञान से ही मोक्ष पतलाने वाले पर किसी प्रकार की क्रिया का अनुष्ठान न

करने वाले ऐसे बंध-भोक्ष के व्यवस्थावादी लोग केवल बचनों को वीरता से ही अपने को आनासत देते हैं ।

नाना-भ्रंश की भाषाएँ—विविध भाषा ज्ञान-जीव को दुर्गति से नहीं बचा सकता । जो पाप कम में निमग्न हैं और अपने को पण्डित मानते हैं, ऐसे मूर्ख मनुष्यों को मला विद्याओं का सीपना वहाँ से रक्षक होगा ?”

स्वामीजी का अन्त-करण बड़ा स्वच्छ और सरल था । दम्भ या डोंग जैसी कोई वस्तु उन्हें रुचि कर नहीं होती थी । दम्भ या डोंग के वातावरण में जैसे स्वामीजी को साँस लेना मुश्किल होता । वे 'कर्मनी' और 'कर्मनी' की विसंगता को सहन नहीं कर सकते । अहाँ वहाँ वे यह बात देखते उसका बड़ी उपद्रवा से भण्डाफोड़ और विरोध करते । इस प्रगति के अंकुर उनमें युवावस्था से ही थे । गृहस्थावस्था में उन्होंने दम्भी कुम्हार की कर्मवृत्तों को प्रकट कर किस प्रकार उसकी ठगी से गोववालों को बचाया था, यह पहले लिखा जा चुका है । जब गृहस्थावस्था में यह बात थी तो साधु अवस्था में डोंग उन्हें कैसे पसन्द होता ! धर्मस्थान और धर्मियों में ठगी, यह उनकी कल्पना के बाहर की बात थी । यदि घरबार सब छोड़ कर साधु बनने वालों में दम्भ ही, तब तो उसका कहीं अन्त ही नहीं हो सकता । जनता के सामने तो धर्मा और अन्तर-जीवन में भ्रष्टाचार—यह विसह्यता उन्हें बड़ी वेदना पहुँचाती । स्वामीजी कहा करते “परमतापरिधी से स्वमत के भेष धारी भुरे—पत्थर की नीका से छद्मवाली नीका भुरी । परमता को हम पहचान सकते हैं, पत्थर की नीका को हम बूट ही से छोड़ सकते हैं, परन्तु भेषधारियों का पहचानना बड़ा मुश्किल होता है । वे तो छिद्रवाली नीका की तरह भीसा देने वाले होते हैं—भाँसे लोगोंको मक्खन में ले डूबते हैं ।” स्वामीजी ने भेष धारियों का उतना खण्डन नहीं किया, जितना स्वांगधारी स्वमतियों का । व इन स्वांगधारियों के सम्बन्ध में कहा करते : “जिस तरह गदहा सिंह की खाल पहन कर स्वच्छन्दत-पूरक रीत को चर जाता है, उनी तरह से वे, साधु का भेष

धारण कर, दिन-दहाड़े समकित और चारित्रिको चर लेते हैं और जैन धर्म की मजबूत दीवार में दरारें डाल देते हैं ।” दम्भ और ढोंग के विरुद्ध स्वामीजी ने जो बगावत की थी, उसका कारण यही था ।

जब कोई केवल भेष की हिमायत करने आता तो स्वामीजी उसको बड़ा करारा जवाब देते । एक बार किसी ने कहा : “हमें आचार से क्या मतलब ? हम तो बाहरी भेष देखते हैं । जिस के पास ओघा और मुहपती होती है, हमारे लिए तो वह साधु है और वदनीय है । हम उसे सिर झुकाना उचित समझते हैं ।” स्वामीजी ने उसको जो जवाब दिया, वह वेप-भूषा की पूजा के प्रति उनकी तीव्र विरोध भावनाओं का विराट् प्रदर्शन कराता है । स्वामीजी ने कहा : “ओघा ऊन का होता है और मुहपती कपास की । यदि ओघे को वदना करने से ही कल्याण होता हो, तब तो भेड़ के पैरों को वदना करनी चाहिये और कहना चाहिये—‘हे माता ! तू धन्य है कि तुमने ओघे को पैदा किया’ । यदि मुहपती-वन्दना से ही कल्याण होता हो तो वणी के वृक्ष को वन्दना करनी चाहिए । परन्तु चरित्रहीन भेषधारियों की वदना और पूजा से कोई नसार-समुद्र से निस्तार नहीं पा सकता । गुण-रहित भेष नमस्कार करने योग्य नहीं ।”

जिन-मार्ग में देखलो, गुण लारे पूजा ।

निगुणा ने पूजे तिके, ते मारग दूजा ॥

स्वामीजी के समय में बहुत से ऐसे साधु थे जो कहा करते : “इस आरे—वर्त्तमान काल में साधुत्व का पूरा-पूरा पालन नहीं हो सकता” । स्वामीजी ने एक बार कहा : ‘गाव में एक साहुकार था, जिसने समूचे गांवको न्यूँता डिया । जब गाववाले भोजन करने आये तो दरवाजे के पास गड़गड़ होकर कटने लगा : ‘मैं इतने आदमियों को भोजन नहीं करा सकता । मेरे पाय इतना सामग्री नहीं है, न मुक्त में इतना नामर्त्य ही है । मैं क्या करूँ ? अमुक मनुष्य ने भी तो न्यूँता देकर ऐसा ही किया था ।’ यह बात सुन कर भोजन के लिये आये हुए लोग उसे क्षामिन्दा करने



लगे 'भले आदमी किसने आकर तुम से कहा था कि गांव को न्यूता दो ? न्यूता दिये बिना तुम्हारा कौन-सा ब्याह बिगड़ता था । तुम्हारे तिर में सात घोवा धूल है कि न्यूता देकर हम लोगोंको भूखा वापस लौटा रहे हो ।' स्वामीजी ने आगे जाकर कहा—“न्यूता देकर वापिस करने वाले की जो फजोहत होती है—वही उस मनुष्य की होती है—जो वैराग्य पूर्वक साधु बनने के बाद कहता फिरता है 'शुभ से पूरे आचार का पालन नहीं होता । अभी अनुकूल समय नहीं है, ऐसे साधु को भ्रष्टाचारी न कहें तो और क्या कहें ?”

स्वामीजी ने एक जगह कहा है—“जो दुपम आरे—काल का नाम ले लेकर भ्रष्टाचार का प्रचार करते हैं और कहते हैं—‘इस काल के लिये ऐसा ही आचार है । वर्तमान काल में दोषों से अधिक बचाव नहीं किया जा सकता’—वह साधु नहीं माना जा सकता ।”

स्वामीजी कहा करते— ताबे के पैसे की भी कीमत है और चांदी के रुपये की भी कीमत होती है । इन दोनों में किसी को पास रखने से सौदा मिल सकता है । परन्तु बेपयारी तो उस नकली रुपये को खलाने वाले की तरह है जिसे सौदा मिलना तो दूर रहा, जिसकी उल्टी फजोहत और हाती है ।” हाँस को स्वामीजी छोटा सियवा समझते थे । उनकी दृष्टि में आचार कुशल साधु ही सच्चा-साधु था और आचार-भ्रष्ट साधु-असाधु । जो केवल भेष में साधु होता आचार में नहीं स्वामीजी उसे थोपे चने, समुद्र के फन या खाली बादल के साथी कहते । व कहते—‘यदि तुम्हें साधुभाव का पालन अमम्वव मरुम् दे तो तुम भावक हो कहलओ और अपनी शक्ति अनुसार भतों का अचछी तरह पालन करो । साधु बनकर दोषों का सेवन मत करो । साधु जीवन में हीलाई खाने की चेष्टा मत करो ।’ एक बार बेपयारी साधुओं की दिमाग्न करते हुए किमी ने कहा “ये अन्य साधु लोग भी साधु का बष रगते हैं व भी गम जल घेवन आदि पीते हैं मिश्र मांग कर रोटी खाते हैं,

वर्षों-वर्ष लोच करते हैं, पैदल विहार करते हैं और शीत—ताप आदि के कठों को सहन करते हैं, फिर इनको साधु क्यों नहीं कहा जाय ?” स्वामीजी बोले : “जैसे डोमनी को ब्राह्मणी का वेप पहना कर, तिलक-छापा कर देने से ही वह ब्राह्मणी नहीं हो जाती, ब्राह्मण कुल के आचार-विचार रखने से ही कोई ब्राह्मणी होती है—वैसे ही कोई वेप मात्र और बाह्य क्रियाओं से साधु नहीं होता। जिनमें चारित्र और समकित्त का अभाव है, वे केवल वेप-भूषा से पृथक् कैसे होंगे ? जैसे भगवारी धन की रक्षा करने से उसका मालिक नहीं होता है, वैसे ही केवल वेप की रक्षा से कोई साधुत्व का अधिकारी कैसे होगा ?”

इसी तरह से एक बार स्वामीजी ने कहा था : “एक सेठ था, जिसने लाख रुपये का दिवाला निकाला। बाद में वह पैसे का सौदा लाता तो पैसा चुका देता और रुपये का सौदा लाता तो रुपया चुका देता। इस तरह पैसे और रुपयों का साहुकार होने पर भी लाख का तो वह दिवालिया ही था। जैसे पैसे और रुपये की साहुकारी से लाख का दिवाला नहीं धुपता छुटता उसी तरह से जो पाँच महाव्रतों को ग्रहण कर निरन्तर दोषों का सेवन करते हैं, वे बहुत बड़ा दिवाला निकाल चुके हैं। लोच और वेप की साहुकारी से वह नहीं धुपता। दिवाला निकालने पर भी जैसे पैसे और रुपये की साहुकारी हो सकती है—उसी तरहसे शुद्ध मन से तपस्यादि करते हैं, उसका फल उन्हें अवश्य होता है, परन्तु इससे पुराना साधुपन का दिवाला नहीं धुपता।”

साधु वेपधारी दुराचारियों की करतूतों से जिन-शासन का मखड़ा नोचा न गिरें और उसकी महिमा धूलि-धूसरित न हो, इसी उच्च भावना से वे दोंग का खण्डन करते थे। स्वामीजी को यह बात बुरी लगती थी कि कोई धर्म के नाम पर भिन्न आचार-विचार का प्रचार करे या समय का नाम लेकर चारित्रच्युत हो। वे साधुओं को उनकी मर्यादा और पद-प्रतिष्ठा का ख्याल करा कर ऊँचा उठाना चाहते थे। वे चाहते थे कि साधुओं में पुनः आत्म-गौरव जागृत हो और वे

ममर्के कि व ऐसी-वैसी गद्दो के नही, परन्तु उदार जिन-शासन के भारवाह है। वे साधुओं में सपम की कठोर साधना—भखण्ड साधना देखना चाहते थे और इसलिये जब कभी वे साधुओं को सयम ब्रष्ट होते देखते—उनको मार्ग से विपरीत आचरण करते देखते—तो उनका हृदय मर्माहित हो जाता। उनको इस बात की यही लज्जा मालूम होती कि भगवान् महावीर के अनुयायी इतने अध-पतित हों। वे शर्म से बड़ी गहरी आत्म-वेदना का अनुभव करते और फलस्वरूप हीनाचार के प्रति—विरुद्ध अपनी समस्त शक्ति को लेकर वे झूमने लगते। स्वामीजी को इस विरोध के कारण लोगों में काफी कटु होना पड़ा। वे अपने जमाने के एक खतरनाक मनुष्य माने जाने लगे। वे इतने भयानक माने जाने लगे कि एक बार उस समय के एक प्रतिष्ठित साधु ने कहा था “यदि भीखणजी का कटारी से गला काट दिया जाय तो सारा फिसाद ही मिट जाय।” परन्तु स्वामीजी ऐसी बातों से कर्पित होने वाले न थे। अपने प्राणों को तो वे जिन-शासन के उदार कायके लिये पहले से ही फोंक चुके थे। “यह शरीर तो अंत-पंत जाने का ही है, जिन-शासन की महिमा फिर से खड़ो कर सकूँ तो ही मेरी महिमा है और भगवान् का साधु कहलाना सार्थक है।” स्वामीजी इसी भावना से ओत-प्रोत होकर काय करते जा रहे थे। उनके जीवन की यही साध थी। ‘भेय’ की जगह गुण की और ‘भेय पूजा की जगह ‘गुण-पूजा’ की पुनः स्थापनाके लिये वे रात-दिन प्रयत्न करते रहे और यह प्रयत्न उनके अन्तिम श्वासीश्वास तक चालू था।

स्वामीजी का जीवन एक महान् साधना उत्कृष्ट तपस्या और निरन्तर आत्मसामि सुगुना और जागरूकता का जीवन था। स्वामीजी स्वयं सत्त्वे आदर्श साधत्व की दशानना करते थे और अपने शिष्यों से भी निर्दोष निष्कलक आपात पवित्र साधु जीवन का पालन करवाते थे। वे महान् उद्योतकारी पुरुष थे। पूर्णिमा के निमल चन्द्रमा की ज्योत्सना की तरह उनकी चारित्र-कौमुदी अपनी सम्पूर्ण छत्र और गुधना के साथ चारों ओर विसृत रहती। वे दुनिया को और विशेषतः सारे जैन मानात्र को एक बहूत पवित्र जीवन का स-देश दे गए। वे एक युगान्तरकारी महान् आदर्शवादी संन थे और जैन आदर्शवाद की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए ही जीवित रह। उनके समस्त जीवन इन्हीं एक साधना का महान् केन्द्रबल था।

## एक महान् क्रांतिकारी युग-पुरुष

—वह जमाना—

स्वामीजी एक युग पुरुष थे—एक महान् क्रांतिकारी युग पुरुष जिन्होंने दुराचार के काले बादल छेद कर स्वच्छ जीवन का उज्वल प्रकाश दिया । जैन-धर्म के इतिहास में वे एक स्वर्णयुग के श्रष्टा हुए । उन्होंने एक नए जीवन का प्रभात शुरू किया—एक नई सदी उपस्थिति की ।

जब हम विक्रम की १९ वीं सदी पर दृष्टि डालते हैं, तो जैन-धर्म की विकृत अवस्था का एक काला युग सामने उपस्थित हो जाता है । वह एक ऐसा जमाना था, जब धर्मका प्रायः तिरोभाव हो चुका था । स्वामीजी के शब्दों में जैसे अनाचार के घनघोर बादल एक साथ उमड़ पड़े हों । शुद्ध दृष्टि और शुद्ध जीवन दोनों का लोप हो चुका था । केवल वेष और ढोंग की वृद्धि हो गई थी । साधुओं में आत्म-साधना का अंश भी नहीं बचा था । फूटे हुए ठीकरे की तरह साधु और श्रावक, दोनों चारित्रहीन हो गए थे । साधु-आचार और कल्प का जरा भी विवेक नहीं था । मठधारियों की तरह साधु स्थानकों में रहने लगे थे । साधु-वेष पेट-पूर्ति का साधन रह गया था । मर्यादा और कल्प को भंग कर एक जगह अधिक रहना, वस्त्र-पात्र तथा अन्य उपकरणों को सीमा का उल्लंघन करना, अशुद्ध आहार पानी का ग्रहण करना—ये सब बातें सहज हो गई थीं । साधु का वेष इस तरह लज्जित कर दिया गया था । चारित्र जैसे भस्म हो रहा हो—धुंआ-धोर हो रहा हो । सूत्र और उनके भावार्थ को साधु भूल चुके थे । जिन-वचनों पर से आस्था—श्रद्धा उठ चुकी थी । केवल वेष ही साधुत्व का प्रतीक बन चुका था । अन्तर विवेक, सच्चा त्याग, सच्चा मुमुक्षु भाव—ये सब अन्तर्धान हो चुके थे । जैसे गुरु थे, वैसे ही श्रावक थे । अलग-अलग गच्छ हो गए थे—और इन गच्छों के अलग

अलग आचार थे। जैन-धर्म के विशाल भवन में ऐसा हो बड़ी दरारें पड़ गयी थीं। यह एक ऐसा जमाना था जब जैसे कोई घट-घट में अघकार छा गया हो—जैसे कोई आंखों पर पट्टी बंध गई हो—जैसे गुण और चरित्र की कोर-कोर खण्डित हो गई हो। शुद्ध साधुओं से अन्तर-द्रव्य और हीनाचारियों से अन्तरंग-प्रेम, शुद्धाचार को प्रगट नहीं होने देना और हीनाचार को शुद्ध आचार कह कर अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने का रूढ़पूर्ण आन्दोलन करना—यह उस जमाने की विशेषता थी।

### : पुनर्निर्माण की रूपरेखा :

स्वामीजी आए—इस तमिस्र-अघकारपूर्ण युग पर एक दृष्टि डाली और वैदिक ऋषियों की तरह उसके पुनर्निर्माणकी एक रूपरेखा खींच ली। उन्होंने सोचा “गभीर, ईर्ष्या और कास्ती—ये तीनों एक से सृष्टि की बनी हुई चीजें होती हैं परन्तु जैसा पुनर्निर्माण होता है, वैसा ही पोट निकलता है। उसी तरह धर्म के विषय में भी है। जैसा गुरु होगा, वैसी ही उसके चेलों की सृष्टि होगी। अतः गुरु को सृजन करने की—उसे कलापूर्ण सुषुप्त बनाने की जरूरत है।” उन्होंने फिर सोचा—“तपज्जु की डंडी के तीन छिद्र होते हैं—एक बीचमें और एक-एक दोनों किनारों पर। तरुकी के दोनों पन्ले बीच वाले छिद्र के बल पर ही समतुल्य रह सकते हैं। बीच वाले छिद्र में थोड़ा भी फरक होने से—यह ठीक मध्य में न होने से—उसका अक्षर धर्म पन्लों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। यदि बीचवाला छिद्र ठीक मध्य में होता है तो दोनों पन्ले भी समान झुके रहते हैं, उन में किसी प्रकार की ‘काण’—अन्तर नहीं आता। उसी तरह देव, गुरु और धर्म ये तीन परम पद हैं। यदि वह ठीक होगा—तो उसके बताए हुए देव और धर्म का स्वस्व भी यथातथ्य होगा और यदि गुरु में ही फर्क होगा तो देव और धर्म में भी अन्तर आ जायगा। गर्व देव और गर्व धर्म की प्राप्ति गुणवत्त निगम गुरु के बिना नहीं हो सकती।” गलिये उन्होंने स्थिर कर लिया कि पहिले ‘गुरु’ को बनाना होगा—उसे अपने मध्य में—चन्द्र में स्थिर करना होगा और फिर सब तत्व अपने आप ही अपने केन्द्रों में

स्थित हो जायेंगे। यही उस प्रलय-सहार में से पुनर्निर्माण की उनकी रूपरेखा थी। परन्तु सच्चे गुरु-पद की स्थापना के पहले वश परम्परागत गुरु के प्रति विमोह-भाव दूर करने के लिये एक भूचाल—एक भूकंप पैदा करने की जरूरत थी और अपने समूचे पुरुषार्थ से वे इस कार्य में जुट गये। उन्होंने हुंकार की—

“जिन भगवान् ने विनय को धर्म का मूल कहा है—ऐसा सब कोई कहते हैं परन्तु उसके रहस्य को विरले ही समझते हैं।

भगवान् ने विनय पर जोर दिया है परन्तु हर किसी के विनय पर नहीं। भगवान् के वचनों का रहस्य है कि जो सत् गुरु का विनय करता है, वही मुक्ति की नींव डालता है। जो असत् गुरु का विनय करता है, वह संसार-भव से कैसे पार पा सकता है? जो सत्-असत् गुरु की पहचान नहीं करता, वह मनुष्य जन्म को यों ही खोत है।

कई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि बाप और गुरु एक समान होते हैं। अच्छा और बुरा क्या, जिसे एक बार मुख से ‘गुरु’ कह दिया, उसे नहीं छोड़ना चाहिये। परन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है।

जिन-आगम में कहा है कि परीक्षा करके ही कोई गुरु करे। गुरु की अच्छी तरह—विशेष रूप से कीमत-परीक्षा करनी चाहिये। असत् गुरु की संगति नहीं करनी चाहिये।

भगवान् ने कहा है कि लक़ीर के फकीर मत बनो। मताग्रही मत बनो। बुरी वस्तु को मालूम पड़ते ही छोड़ दो। जो ऐसा कहते हैं कि गुरु गहला हो या बावला वह देवों का देव है, समझदार चेला सदा उसकी सेवा करे—उन्हें जिन मार्गों नहीं कहा जा सकता।

जिन भगवान् का बतलाया हुआ साधु-मार्ग सो टश्च सोना है। उसमें खोट—झाद नहीं राटा सकती। चेला चूके—पथ भ्रष्ट हो तो गुरु उसे तत्क्षण छोड़ दे और गुरु चुके तो चेला उसका संग त्याग दे—यही जिन-मार्ग है।

भगवान् ने गुण होने से पूजा करने को कहा है। परन्तु ये तो निर्गुणों की पूजा करते जा रहे हैं ! देखो ! ये प्रत्यक्ष मूले हैं !

‘सोने की छुरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई अपने पेट में नहीं भौंक सकता उसी तरह कोई भी समझदार व्यक्ति द्रुगति करने वाले वैषाचारी गुरु की—फिर वह वंश परम्परागत ही क्यों न हो—विनय-सेवा भक्ति नहीं करता और उसे सुरभ्रत दूर छिटका देता है।’

गहले, गुरु-गुरु चिल्ला रहे हैं परन्तु सच्चा गुरु कौन होता है, इसकी उन्हें खबर ही नहीं। जो हीनाचारी गुरु का विनय करता है, वह धारों गति में गीता खाता है।’

स्वामीजी की इस हुंकार से मोह के बादल फटने लगे। ढोंग के प्रति एक बगावत पैदा हो गई। शुद्ध साधु और शुद्ध धात्रक-जीवन के प्रति दृष्टि मुक्त गई। स्वामीजी ने भ्रष्टा-भ्रष्ट जनता को झलकार कर कहा

‘हे प्राणी ! तुम्हें समझित कैसे आई ! तू सच्चे देव का आचार नहीं जानता, न तुम्हें वास्तविक गुरु की कोई खबर है और न तू धर्म का रहस्य जानता है ! अरे ! तू तो केवल अभिमान में डूबा फिरता है !

हे प्राणी ! तुम्हें समझित कैसे आई ! तू नवतत्व का रहस्य नहीं जानता केवल मूठी लगवाई—बकवाद करता है। अज्ञान होने पर भी तू अपने को धर्म का धोरी मान बैठा है—यह तुम्हारा कितना भोलापन है !

हे प्राणी ! तुम्हें समझित कैसे आई ! तू न जीव को पहचानता है और न अजीव को। तुझे पुण्य की खबर नहीं और न तू पाप की प्रशस्तियों को समझता है। तू ने तो केवल व्यर्थ झगड़े किए हैं !

हे प्राणी ! तुम्हें समझित कैसे आई ! तुम्हारे आसन्न (कर्म आने के द्वार—जले) सुले दिखाई देते हैं। तुम्हारे संवर—समता अथ स्वधा नहीं हुआ। तू ने निजरा क्या है—इसका निगम नहीं किया। तुम्हारी चतुराई—पुशालता कहा जाती गई ?

हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! तुम्हे बंध मोक्ष की कोई खबर ही नहीं, फिर भी तू समदृष्टि नाम धरता है। रे भोले ! तुम्हे कुगुरुओं ने भरमा दिया !

हे प्राणी ! तुम्हे समकित कैसे आई ! तू कुगुरुओं से हाथ जोड़ कर समकित ग्रहण करता है परन्तु तुम्हारा अन्तर अज्ञान तो मिटा ही नहीं। तू मिथ्या ही प्रत्याख्यान करता है !

हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! तू स्वांगधारियों को साधु मानता है और उनके पैरों पर गिर-गिर कर 'तिक्खुत्ते' के पाठपूर्वक उनकी वंदना करता और हर्षित होता है !

हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! सावध करणी पाप की हेतु है, यह तू जानता ही नहीं और न तू यह समझता है कि निरवध करणी में धर्म और पुण्य है !

हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! तू ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नहीं जाना। जिस गुरु जैसी दूसरी वस्तु नहीं उसी का तुम्हें कोई पता नहीं। तू ने मनुष्य-भव पाया फिर भी चार निक्षेपों का निर्णय नहीं किया।

हे प्राणी ? तुम्हें समकित कैसे आई ! करण योग के भांगों की तुझे धारणा नहीं और न तुम्हें व्रतों की जानकारी है। तू अव्रत में धर्म की श्रद्धा—मान्यता रखता है। तू ने नर्क की साईं दे दी है।

हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! तू थोथी बड़ाई—अभिमान करता है। न्याय बात तुम्हारे हाथ कैसे आ सकती है। तू खोटे ( झूठे ) चीज—हेतु दलील लगा कर जिन-आज्ञा के बाहर धर्म बतला रहा है।

हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! देव तो जिनेश्वर देव हैं और सच्चा धर्म उनके द्वारा धताया हुआ धर्म। यदि तू वास्तवमें चतुर है तो सद् गुरु का मग कर, उपरोक्त सब बातों का निर्णय कर।

हे प्राणी ! तुम्हें समकित कैसे आई ! जीव-अजीव के छः द्रव्य किए हैं और



भगवान् ने गुण होने से पूजा करने को कहा है। परन्तु ये तो पूजा करते जा रहे हैं। देखो। ये प्रत्यक्ष भूले हैं।

‘सोने की छुरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई अपने पेट में नहीं भौंक उसी तरह कोई भी समझदार व्यक्ति दुर्गति करने वाले वैषधारी गुरु की—वंश परम्परागत ही क्यों न हो—विनय-सेवा भक्ति नहीं करता और उसे गुरु छिटका देता है।’

गहले, गुरु-गुरु चिल्ला रहे हैं परन्तु सचा गुरु कौन होता है, इसकी उही नहीं। जो होनाचारी गुरु का विनय करता है, यह चारों गति खाता है।”

स्वामीजी की इस दुकार से मोह के बादल फटने लगे। बाँध के प्र बगवत पैदा हो गईं। शुद्ध साधु और शुद्ध भावक-जीवन के प्रति दृष्टि मुझ स्वामीजी ने श्रद्धा-भ्रष्ट जनता को स्लकार कर कहा

“हे प्राणी ! तुम्हें समझित कैसे आई ! तू सर्वो देव का आचार नहीं ज न तुम्हें वास्तविक गुरु की कोई खबर है और न तू धर्म का रहस्य जानता धरे ! तू तो केवल लमिमान में डूबा फिरता है !

हे प्राणी ! तुम्हें समझित कैसे आई ! तू नवतत्व का रहस्य नहीं केवल झूठी धरणाई—बकवाद करता है। अज्ञान होने पर भी तू अपने को क धोरी मान बैठा है—यह तुम्हारा कितना मोल्यपन है !

हे प्राणी ! तुम्हें समझित कैसे आई ! तू न जीव को पहचानता है और अजीव को। तुझे पुण्य की खबर नहीं और न तू पाप की प्रकृतियों को समझता है तू ने तो केवल व्यथ भगवड़े किए हैं।

हे प्राणी ! तुम्हें समझित कैसे आई ! तुम्हारे आसन ( कम आने के —नले ) तुझे दिखाई देते हैं। तुम्हारे सवर—समता का स्पश नहीं हुआ। तू निजरा क्या है—इमका निर्णय नहीं किया। तुम्हारी चतुराई—दुश्चलता क बली गई ?

जो औदेषिक वस्तुओं का सेवन करता है उसे अनाचारी, प्रपु और नर्कगामी कहा है ( दश वैकालिक सू० अ० ३ गा० २; अ० ६ गा० ७ उत्तराध्ययन सूत्र अ० २० गा० ४७ ) । १

### —श्रीतकृत दोष—

साधु के निमित्त खरीदे गये आहार, वस्त्र आदि अरुण्य और सदोष हैं । साधु अपने निमित्त श्रीत वस्तुओं का सेवन न करे—ऐसी भगवान की आज्ञा है ।

जो साधु अपने लिए खरीदो हुई वस्तुओं को ग्रहण करता है वह महा दोषी है । वह साधु भाव से पतित होता है । निशीथ सूत्र के १९ वें उद्देशक में उसे नाम—व्रत विहीन—कहा गया है । २

जो साधु, पुस्तक पात्र, उपासरादिक, अच्छे सुरे बतला कर, मोल लिराता है, वह साधु गृहस्थ का काम करता है ।

वह तो खरीदने और बेचने वालों के बीच दलाल का काम करता है ।

कय विक्रय की प्रवृत्ति साधु के लिए महा दोष है—ऐसा उत्तराध्ययन सूत्र ( अ० ३५ ) में उल्लेख है । ३

### —नित्य पिण्ड दोष—

रोज-रोज एक ही घर से आहार आदि की मिश्रा क ना, अरुण्य कार्य है । गधु रोज-रोज एक ही घर की मिश्रा न करे—ऐसी भगवान की आज्ञा है ।

जो साधु रोज-रोज एक ही घर की गोचरी करता है, वह प्रत्यक्ष रूप से हिंसा का अनुमान करता है ( दश वैकालिक सूत्र अ० ६ गा० ४९ ) तथा सतल दोष का भागी होता है ( दशाश्रुत स्कंध दशा० २, गा० ४ ) । ४

जिद्य घर से पहले दिन अन्न आदि खारों आहार लेन हैं उगी घर से दूगरे

१—गा० आ० ११, २३; २—सा० आ० ११२०, २५, २८;

३—सा० आ० ३७, ८, ९; ४—सा० आ० ११३७

जम जाते हैं। अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। यह उनकी परिदेहना—प्रतिलेखन कीच रम सीमा है। उनके घट से चरित्र एक बार ही दूर चला गया।

### —परदा दोष—

ये स्थानक के सामने अपने हाथ से परदा बांधते और खोलते हैं। इसमें दोष नहीं मानते। इस तरह साधुत्व कैसे पलेगा? बर्षा के कारण परदे के नीलाग फूलग—कई आ जाती है। परदा इकट्ठा करने से इन जीवों के ताल सा लय जाता है। इससे साधु को जीव हिंसा का पाप होता है। परदा द्रव्य है—परिमह है—इसके सेवन से चरित्र की विराधना होती है। जो साध के लिये परदा बांधते हैं और जो साधु ऐसे परदे का सेवन करते हैं, वे दोनों ही कर्मों से मारी होते हैं। १२

### —मर्यादातीत विहार—

कारण बिना ही ये एक जगह एक महीने से अधिक रहते हैं और इसी तरह चतुर्मास के बाद भी बिना कारण उसी जगह रह जाते हैं। ये कल्प को इस तरह भंग कर भगवान की मर्यादा को तोड़ते हैं। कल्प—मर्यादा—भंग करते हुए जिनके मन में जरा भी विचार नहीं आता उनको कोई बहानी ही साधु समझ सकता है। १

### —विपरीत चर्या—

जब दूरस्थनी स्थानक लंपने आते हैं तो आदर्श गारे में धोवन डालती हैं, कई बर्षों हाथ से दह तोरती हैं, कई गारे के पिन्डों को हाथ में रख कर सहाय देती हैं—इस तरह सुले कम जिन-शाल से विरति आचरण करती हैं। ४

### —प्रतिमा पूजन—

जम जाते हैं। अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। यह उनकी पहिचाना—प्रतिलेखन कीच रम सौमा है। उनके घट से चरित्र एक बार ही दूर चला गया। १

### —परदा दोष—

ये स्थानरु के सामने अपने हाथ से परदा बांधते और खोलते हैं। इसमें दोष नहीं मानते। इस तरह साधुत्व कैसे पलेगा? पर्वा के कारण परदे के नीलग फूलग—झाई आ जाती है। परदा हकडा करने से इन जीवों के ताला सा लग जाता है। इससे साधु को जीव हिंसा का पाप होता है। परदा द्रव्य है—परिमह है—इसके सेवन से चरित्र को विराधना होती है। जा साधु के लिये परदा बांधते हैं और जो साधु ऐसे परदे का सेवन करते हैं, वे दोनों ही कर्मों से भारी होते हैं। २

### —मर्यादातीत विहार—

कारण बिना ही ये एक जगह एक महीने से अधिक रहते हैं और इसी तरह चातुर्मास के बाद भी बिना कारण उसी जगह रह जाते हैं। ये कल्प को इस तरह भंग कर भगवान की मर्यादा को लोपते हैं। कल्प—मर्यादा—भंग करते हुए जिनके मन में जरा भी विचार नहीं आता उनको कोई अज्ञानी ही साधु समझ सकता है। ३

### —विपरीत चर्या—

जब गृहस्थिनी स्थानरु छीपने आती है ता आर्याए गारे में धोवन डालती हैं, कई आर्याए हाथ से दूध लोपती हैं, कई गारे के पिण्डों को हाथ में रस कर सहारा देती हैं—इस तरह सुले आम जिन-दानन से विपरीत आचारण करती हैं। ४

### —प्रतिमा पूजन—

ये दीर्घ जला घूर होते हैं। फूलों की क्यो कलिमां तोड़ प्रतिमा पर चढ़ात हैं और उम्मे जल से स्नान कराते हैं। एगा कर हृदय में हविष होते हैं।

१—ध० आ० १८१४,२५      २—ध० आ० १८१६,१८,२९;

३—ध० आ० १८११,१९,४२,      ४—ध० आ० १८१७,४८।

जन जाते हैं। अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। यह उनकी पहिचानना—प्रतिलेखन कीच रम सीमा है। उनके घट से चारित्र्य एक बार ही दूर चला गया। १

### —परदा दोष—

ये स्थानक क सामने अपने हाथ से परदा बांधते और खोलने हैं। इस में दोष नहीं मानते। इस तरह साधुत्व कैसे पड़ेगा। वर्षा के कारण परदे के नीलग फूलक—कड़ आ जाती है। परदा इकट्ठा करने से इन जीवों के सत्त्व सत्त्व लग जाता है। इससे साधु की जीव दिशा का पार होता है। परदा द्रव्य है—परिमह है—गके सेवन से चरित्र को विरुधना होती है। जो साधु के लिये परदा बांधने हैं और जो साधु ऐसे परदे का सेवन करते हैं, वे दोनों ही कर्मों से मारी होते हैं। २

### —मर्यादातीत विहार—

कारण बिना ही ये एक जगह एक महीने से अधिक रहते हैं और एही तरह धानुमार्ग के बाद भी बिना कारण उभी जगह रह जाते हैं। ये कर्म को इस तरह मंग कर भगवान की मर्यादा को लोपत हैं। कर्म—मर्यादा—भंग करते हुए जिनके मन में अरु भी विचार नहीं आता उनको कोई अज्ञानी ही साधु समझ सकता है। ३

### —विषरीत चर्या—

जब गृहरिचनी स्थानक संपने आती है ता आर्याए गारे में धोवन डालती है, कई आर्याए हाथ से कड़ सीपनी हैं, कड़ गारे के पिण्डों को हाथ में रस कर सहारा देती हैं—इस तरह खुले आम जिन-शासन से विररित आचारण करती हैं। ४

### —प्रतिमा पूजन—

ये हीनक जल धूर होत है। फूलों की क्यो कलियां तोड़ प्रतिमा पर चढ़ाते हैं और उभे सत्त्व से स्नान करते हैं। एगा का दृश्य में हर्षित होत है।

१—ध० आ० १८१४, २५      २—ध० आ० १८१६, २८, २९ ;

३—ध० आ० १८१९, २९, ४२,      ४—ध० आ० १८१७, ४८।

जन्म जाते हैं। अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। यह उनकी परिच्छिन्ना—प्रतिलेखन कीच रम सीमा है। उनके घट से चरित्र एक बार हो दूर चला गया। १

### —परदा दीप—

ये स्थानक क सामने अरने हाथ से परदा बांधते और खोलते हैं। इस में दीप नहीं मानते। इस तरह साकुल कैसे पलेगा? क्या के कारण परदे क नीलम फूलग—काइ आ जाती है। परदा इकट्ठा करने से इन जीवों के तालम सा लम जाता है। इससे साधु को जीव हिंसा का पाप होता है। परदा द्रव्य है—परिमह है—इसके सेवन से चरित्र को विराधना होती है। जो साधु क लिये परदा बांधते हैं और जो साधु ऐसे परदे का सेवन करते हैं वे दोनों ही कर्मों से भारी होते हैं। २

### —मर्यादातीत विहार—

कारण बिना ही ये एक जगह एक महीन से अधिक रहते हैं और इसी तरह चानुर्मास के बाद भी बिना कारण उसी जगह रह जाते हैं। ये कल्प को इस तरह भंग कर भगवान की मयादा को लोपते हैं। कल्प—मर्यादा—भंग करत हुए जिनके मन में जरा भी विचार नहीं आता उनको कोइ अज्ञानी ही साधु समझ सकता है। ३

### —विपरीत चया—

जब एहस्तिनी स्थानक लीपने आती है ता आर्याए गारे में भोवन डालती हैं, कइ आर्याए हाथ से दइ लीपती हैं, कइ गारे क पिण्डों को हाथ में रख कर सहाए देती है—इस तरह एले आम जिन-शासन से विपरीत आचारण करती हैं। ४

### —प्रतिमा पूजन—

ये दीपक जल घुव डेत हैं। फूलों की कन्धी कलियां तोड़ प्रतिमा पर चढ़ते हैं और उसे जल से स्नान कराते हैं। पूजा कर हृदय में इषित होत है।

१—ध० आ० १८१४, २५      २—ध० आ० १८१६, १८, २९;

३—ध० आ० १८१९, २९, ४२,      ४—ध० आ० १८१७, ४८।

जिन पुरुषों के अद्भुत नाम-स्मरण से कोटि-कोटि कर्मों का नाश हो जाता है, उन पुरुषों का मंडल उतारने वाला पुत्र किस मा ने उत्पन्न किया है ?

फूलों में असह्यात जीव हैं—ऐसा भगवान ने कहा है। फूल चढ़ाने में धर्म है—ऐसा प्रचार कुगुरुओं के वचनों में ही हो सकता है।

इस बात को वही गच्चा मानते हैं जिनके अत्यन्त कर्म हैं और जो बहुत ससारी हैं। कुगुरु नर्क जाने के लिये बर बने हैं और इन श्रावकोंकी जानी के रूप में साथ ले लिया हैं।

जो यह प्रहृषणा—प्रचार करते हैं कि प्रतिमा पर पीछो फेरने में ही उपास का धर्म होता है—वे मनुष्य भव को यों ही सोते हैं—वे केवल पीछो फेरते ही रह जाते हैं

यदि प्रतिमा के सामने पग भरने से ही तेल का फल बताया जाता है तो फिर उपवास, बेला, तेल आदि कर कौन कष्ट पावेगा ?

भगवान के दर्शन के लिये जाने पर श्रावक सचित्त अलग कर देते थे परन्तु देखो ये तो भगवान कह कर प्रतिमा के मस्तक पर फूल चढ़ाते हैं।

‘प्रतिमा पर फूल चढ़ाने से लाख उपवास का फल होता है’ ऐसी मूठी प्रहृषणा करने वाले नर्क की साईं देते हैं।

जो रात में भूलते हैं वे आशा कर सकते हैं कि सूर्योदय होने पर वे ठीक रास्ता पा लेंगे परन्तु दिनके दुपहरमें भूला हुए रास्ता पानेकी वैसे आशा कर सकते हैं ११

—श्वान-वृत्ति —

ये सुबह जिस घर से आहार लाते हैं, दुपहर में फिर उसी घर जाकर घूघरी आदि बहरते हैं और शाम को गर्म रोटी दाल ले आते हैं—यह खोटी चाल है। बिना कारण शाम को गर्म बहरना बिलकुल विपरीत है। १२

१—जैन भजन प्रकाश ( प्रथम भाग ) : ‘चतुर विचार की ढाल’ पृ० ७४,

२—श्र० आ० १६।२४, २५, २९ ।

जिस दिन घामको लोहार होता है उस दिन सुबह को गोचरी टाल देत हैं और घाम को घर घर भटकवत हैं। प्रभात में आहार मिलने पर भोजी नहीं खेते और घामके लोहार के आहार को यदि रखते हैं—उनक दिन भर तान्य-वेजा लम्बा रहता है। वे दिन भर आर्याभ्याल में समय बित्ते हैं और घाम को घृतगुरित निप्यन्नादि बहर कर मानें लोहार मनाते हैं। इस तरह जो रस गूद हैं और खाने आहार पर टूटे पड़ते हैं उन्हें समाधि कैते प्राप्त होगी। वे व्यर्थ ही साधु गान भरते हैं। जो ठूस ठूस कर सरस आहार खाते हैं वे विकल हैं। उनके साधुत्व में धूल है। जो रसगूदि और जिज्ञा के लम्पटी है उनका वेप क्षुपित है। जो बिना कारण और केवल लोहार होने से घाम को गोचरी करते हैं उन्हें तीन चिन्मर है ११

#### —एक द्वार दोष—

मगधाल ने यह मयादा बांधी है कि जिस गाँव, नगर, पुर, पाहन और पाके से निकलने का एक ही रास्ता हो वहाँ साधु साधो दोनों न रहें १२

एक ही दरवाज़ से आने जाने से लोगों का विश्वास उठ जाता है और नत भा होने की भी नौबत आ जाती है। इसलिए उपरोक्त मयादा बांधी गयी। परन्तु देखो। यह तो प्रत्यक्ष अन्याय हो रहा है—मगवान की आज्ञा के विरुद्ध, दो द्वार होने पर भी, ये एक ही द्वार से आना-जाना कर रहे हैं। बृहन कल्प देख कर इस दोष का निम्न करो १३

#### —कटक वसति—

गाँव नगर के बहर फौज के पक्ष में एक रात भर भी रहना जिन-आश में नहीं है। एक रात पक्ष में रहन कठे को चार मास का छेद बृहन कल्प क



—विहार दोष—

संघ में और साध्वियों के होने पर भी तथा बिना किसी कारण के केवल दो ही साध्वियों का साथ रहना प्रत्यक्ष दोष है। केवल दो ही साध्वियों का साथ रहना व्यवहार सूत्र के पाँचवें उद्देशक में वर्जित है।

बिना कारण अकेली साध्वी का गोचरी जाना अथवा शौचादि के लिए जाना प्रभु-आज्ञा के विपरीत है। तथा साध्वी को अकेले रहना गृह्य, ऋग, उद्देश ५ में वर्जित है। इसी तरह की और भी बहुत सी बातें वक्ष्य हैं।

—चश्मा लगाना—

काच रखना शास्त्रों में मना है। परन्तु आज के साधु चश्मा रगाने लगे हैं और उसमें थोड़ा ही दोष समझते हैं। जो ऐसा समझते हैं, उन्होंने पाँचवें परिग्रह विरमण व्रत को भंग कर दिया है। वे जिन-भगवान को आज्ञा के चोर—उसे लोप करने वाले हैं। १

—निमन्त्रित ग्रहण—

गृहस्थ घर से आकर कपड़ों के लिये साधु को बुला कर ले जाय और इस तरह साधु जाकर बहर ले तो उसमें चारित्र्य किस तरह कहा जाय ?२

सामने लाया हुआ लेना अथवा बुलाने आने पर जाकर लेना—ये दोनों ही भारी दोष हैं। वीर भगवान के अनुयायी इन दोनों ही दोषों से बचते हैं। जो इन दोषों का सेवन करता है, वह शुद्धाचारी साधु नहीं। ३

—सचित्त ग्रहण—

धोवन में वनस्पति और भीगे हुए धान के कण रहते हैं। ऐसे सचित्त धोवन को ग्रहण करने में जो संकोच नहीं करते, वे परभव से नहीं बरते। उन्हें साधु कैसे कहा जाय ?४

ऐसा अन्न, पानी भोगने वाले, सूत्रों के अनुसार चोर की श्रेणी में आते हैं। ५

१—सा० आ० ६।१३; २—सा० आ० ६।१५; ३—सा० आ० ६।१६,

४—सा० आ० ६।१७; ५—सा० आ० ६।१

## —बोल थोकड़ लिखना लिखवाना—

गृहस्थ के लिए सम्मान्य बोल थोकड़े लिख कर देने से साधु को दोष लगता है तो फिर लिखवा कर देने और अनुमोदना करने से भी दूसरे और तीसरे भग्न से दोष लगता है। जो ऐसा करते हैं उन्हें साधु कैसे सम्मान्य जाय ११

## —दड़ लीपना—

जो साधु स्थानक में दड़—बिल लीपता है वह जिनेश्वर भगवान की आज्ञा को भंग करता है। दसवें भग्न में, तीसरे मत की तीसरी भावना में इस कार्य की मनाही की गई है। ऐसा कार्य करने वाला वेप को निन्दित करता है। उसे साधु कैसे सम्मान्य जाय १२

## —अठारह स्थानक और वाक्य अनाचार—

जिनेश्वर देव ने १८ स्थानक बतलाए हैं। जो एक को १ विरुधना करता है उसे भगवान ने बाल कहा है। उसे साधु मत जानो १३

जिन आगम में ५२ अनाचार और ४२ दोष बतलाए गये हैं। इन दोषों के सेवन से और सेवन करने से महाप्रतों का विनाश होता है १४

## —जीमनवार गोचरी—

जीमनवार में गोचरी के लिए जाना साधुओं का आधार नहीं है। इसको मनाही आचारंग गृह्य रूप्य उत्ताप्ययन और निशीथ—इन सब सूत्रों में की गई है। जो पात क बैठे २ बिना आलस्य जीमनवार में जा पात्र भर-भर सरस आहार खाते हैं उन्होंने साधु वेद्य की लज्जा खो दी है १५

## —उपकरण दान—

जो गृहस्थ की छाट, पात्र पटे, पस्त, रजोहरण और पूजनी दते हैं, व साधु क बच को पहनत हुए भी भ्रष्ट हैं। पूजने पर कष्ट है कि हमन उन्हें परठ

१—सा० भा० ६१५; २—सा० भा० ४१६, ६१; ३—सा० भा० ४१३;

४—सा० भा० २१८; ५—सा० भा० ३१२, २१

दिया परन्तु जरूरत पड़ने पर वापिस ले लेते हैं। अन्तर चाह नहीं मिटो थीं कहते हैं कि हमने परठ दिया—यह कितनी कपट है। आचाराग और उत्तराध्ययन सूत्र में एकान्त में जाकर परठने का विधान है, फिर गृहस्थ को देकर परठ ने का क्या अर्थ हुआ ? गृहस्थ को अल्प उपधि देने से ही सर्व मत भंग होते हैं। निशीथ में चौमासी दण्ड कहा है। गृहस्थ को देने वाला साधु जन धर्म को टेक को छोड़ता है। ११

### —इर्या समिति—

ये कहने मात्र के साधु हैं। इनकी चाल बिना अकुश के दावी और बिना लगाम के घोड़े की तरह है। इनके हृदय में ६६ ही काय के जीवों की प्रति अनुकम्पा नहीं है। ये गुण बिना ही अपने को साधु कहते हैं। इसका परमार्थ बिरले ही समझ सकते हैं। आचाराग और उत्तराध्ययन में स्पष्ट कहा है कि चलते २ धात करने से तथा ऊँची तिरछी दिशाओं में ताकने से ६६ ही काय के जीवों की घात होती है। दबक-दबक कर शीघ्र चलने से त्रस-स्थावर जीव मारे जाते हैं। इर्यासमिति को पालन किए बिना चलने से कोई कैसे साधु होगा १२

### —वस्त्र गृद्धि—

लम्बे अर्ज का कपड़ा पहन कर इन्होंने वस्त्र मर्यादा का लोप कर दिया। ये दोहरा कपड़ा—अधिक वस्त्र रखते हैं पर पूछने पर झूठ बोलते हैं। जो मर्यादा से अधिक उपग्रण रखता है वह बड़ा भन्याय करता है। निशीथ के सोलहवें उद्देशक में इससे चौमासी चारित्र का छेद बतलाया गया है। ३

### —आहार गृद्धि—

बिना मर्यादा सरस आहार लेने से देह की लोथ बढ़ जाती है। बिगड़ का

अत्यधिक सेवन कर जो काया को हृष्ट पुष्ट कर नास बनाता है, वह विषय इन्द्रिये स्थियों को बुरे नजर से देखने लगता है और साधुत्व से ग्रहण हो जाता है।)

### —उपधि-पडिलेहन—

कई साधु पुस्तकों के दर के ढेर अपने पास रखते हैं। जब उनके कोई प्रश्न करता है कि इतनी पुस्तकों की पडिलेहन किस तरह होती है, तब वे उत्तर देते हैं कि पुस्तक-पडिलेहन की बात किसी सूत्र में नहीं आई है। ऐसा उत्तर देना मिथ्या बोलना है। जो आचार का पाठन नहीं कर सकते, वे अपना दोष छिपाने के लिये ऐसा कहते हैं।

वे यह भी कहते हैं कि जो चीजें हम उपयोग में लाते हैं, उनकी पडिलेहन करते हैं, जो चीजें उपयोग में नहीं आ रही हों, उनको पडिलेहन नहीं करने में दोष नहीं—परन्तु ऐसा कहना भी जायज-संगत नहीं है।

साधु को रोज-रोज पडिलेहन करना चाहिये—देख भगवान ने दसबेकालिक, आनन्दक, उत्तराध्यायन आदि सूत्रों में स्थान-स्थान पर कहा है। जो अरतो एक उपधि भी पडिलेहन बिना रखता है, उसके लिये भगवान ने मायिक दण्ड बतलाया है।<sup>१</sup>

पुस्तकों के ढेर बिना पडिलेहन किये रखने से उनमें जीवों के जात उभ आते हैं, बीमारों में बीजण-फलण आ जाती है। चींटी, कुपरे आदि जीव दरान होवे और मरते हैं। इस प्रकार अनेक जीवों का नाश होता है।

इस तरह पुस्तकों बिना पडिलेहो रखने से पूरा पाप लगता है। जो शर नहीं मानते, उनकी समझ बरती है। वे बिना समझें मूढ़ों पडपात करते हैं।

जो पुस्तकों की बिना प्रतिवेक्षण रखते हैं, उनके सदा अस्वभावि रहती है। अनेक जीवों की पात करने से उन्हें साधु नहीं कहा जा सकता। मुनि अपने बन्ध, मन्त्र, विद्वान्, पाठ-बाबोट तथा शास्त्र आदि पडिलेहन करने में कभी चूक न करे।<sup>२</sup>

१—सा० आ० ३११ ४१; २—निघोष सूत्र द्वितीय उर्ध्वक

३—ध० आ० ११६ १२६

—उपयोग अनाचीर्ण—

गर्भों को गद्दतु में गृहस्थ के वर्तनों में जल डारना—ठग्न करना और मन माने जब इन वर्तनों को वापिस सौंप देना—यह कार्य भगवान की आज्ञा सम्मत नहीं है। गृहस्थ के वर्तनों में अन्नगदि का भोजन करने वाला साधु, निर्मन्थ भाव से श्रेष्ठ हाता है—ऐसा दसवैकालिक मृत के छठे अध्ययन में कहा है। इसलिये उपरोक्त चाल चलने वाले को साधु मतसम्भो १।

—संप्रह वृत्ति—

औषधादि बहर कर बासी रचना, या रात के समय किसी गृहस्थ के यहा रख आना और सुबह होने पर उसके यहा से वापस ले आना—इस प्रकार रात बासी चीजें रखना और अपनी चीजों को गृहस्थों को सौंपना—ये दोनों ही बड़े दोष हैं। इस तरह उपयोग में भी खामी आती है—जो तीसरा दोष है। पृच्छने पर वे यह कहते हैं कि हमने कोई चीज बासी नहीं रखी—यह प्रत्यक्ष झूठ है। औषध आदि को बासी रखने से व्रतों का भंग होता है। दसवैकालिक के तीजे अध्ययन में इसे अनाचार कहा है। इसलिये उपरोक्त चाल चलने वाले को साधु मतसम्भो २।

गृहस्थों से पाट—बाजोट आदि लाकर जो उन्हें लौटाने की इच्छा नहीं रखते और मर्यादा लोप कर उन्हें सेवन करते हैं, उन्हें जैन आचार को छोड़ दिया है। वे साधु कैसे माने जायेंगे ?३

—गृहस्थों को आशीर्वाद—

जब गृहस्थ आकर वदना करे तो उसके मस्तक पर हाथ रखना—यह

१—सा० आ० ४।३०, ३१ ; २—सा० आ० ४।३६-३९;

३—आ० चा० ६।३०

प्रत्यक्ष ही कुतूह को चाल है। जो गृहस्थ के मस्तक पर हाथ रखता है, उसे गृहस्थ के बराबर समझो। जो गृहस्थ के मस्तक पर हाथ रखता है, वह गृहस्थ से सम्भोग करता है उसके भोगों में रोग लग गया समझो उसे साधु कैसे समझा जा सकता है ? ऐसा करना प्रत्यक्ष भगवान को आज्ञा के विपरीत है—यह दसैकालिक, आचार्यंग और निशीथ सूत्र से मालूम किया जा सकता है। ऐसे आचार वाले को साधु मत समझो। १

### —अयोग्य दीक्षा—

जो चोर, ठग और जल्बाद की तरह भोले लोगों को उचक कर, उन्हें किसी दूसरी जगह ले जा कर मूढते हैं, जो आहार-वस्त्रादि का लोभ-कालच दिख कर किसी को साधु का बेप पहनाव हैं—उन्हें साधु मत समझो। २

जो इस प्रकार चेले कर अपने मत को बढ़ाते हैं, वे गुणहीन वप को प्रोत्साहन देते हैं। वे साधुत्व का ढोंग रच कर कर्मों से विशेष भारी होते हैं। ३

जो इस प्रकार मूढ-मूढ कर इकट्ठे किये गये हैं, उनसे साधु आचार किस प्रकार पड़ेगा ? वे तो भूख, तृषा के परिपह से पबका कर अजुद आहार आदि लेने लगेंगे। ४

अज्ञानी व अयोग्य को दीक्षा देने से चारित्र्य का क्षयजन होता है। इसके लिये निशोध के म्यारहवें उद्देशक में चौमासिक दण्ड बतलाया गया है। ५

जो विरक्त-विद्वल बालक-बूढ़ों को जिन्हें नव पदार्थ का जरा भी बोध नहीं, धर्म पहचानता है, उसे साधु मत समझो। ६

सिप्य करना हो या उस ही करना चाहिये जो चतुर और युद्धिमान हो तथा किसी नव पदार्थ का ज्ञान हा नहीं। तो अकल्प ही रहना चाहिये—एसा उल्लाप-

१—सा० आ० ४१४५-५२; २—सा० आ० ४१५३ ५४

३—आ० आ० ४१५५ ४—सा० आ० ४१५६

५—सा० आ० ४१५७ ६—४१५८, ५० आ० १११२१ २३

अध्ययन सूत्र के ३२ वं अध्ययन में कहा है। जो इसके गिरांत दोषा देता है, उसे साधु मत समझो ।१

जो केवल पर निन्दा में दूबे रहते हैं, जिनके मन में जरा भी सन्तोष नहीं है, उनमें तेरह दोष हैं—ऐसा बोर भगवान ने दसरे अंग में कहा है। जो यह कहते हैं कि यदि दोषा लो तो मेरे ही हाथ से लेना, दूसरों के हाथ से नहीं तथा जो इस प्रकार के सौगन्ध दिला देते हैं, वे प्रत्यक्ष उन्नी चाल चलते हैं, ऐंगी चाल से किसी को साधु नहीं समझना चाहिये। ऐसा नियम कराने से ममता लगती है, गृहस्थ से परिचय बढ़ता है। इसका दण्ड भगवान ने निशीथ के चौथे उद्देशक में कहा है ।२

ये जो गृहस्थों से रुपये दिलवा-दिलवा कर चेलों को मूँडते हैं, उन्हें साधु मत समझो। इस प्रकार चले करने की रीत विलकुल उल्टी है। अयोग्य को दीक्षा देना, भगवान की आज्ञा के बाहर है। ऐसा कार्य करने वाले विलकुल बिटल—भ्रष्ट हैं ।३

### —संदेश समाचार—

गृहस्थ के साथ संदेश कहलाने से उसके साथ सभोग होता है। जो इस प्रकार संदेश कहलाते हैं, उनको साधु किस प्रकार समझा जाय ? उनके योगों को रोग लगा समझो ।४

गाँव-नगर समाचार भेजने के लिये जो संकेत कर गृहस्थों को बुलाकर उन्हें खोल-खोल कर समाचार घटा कागद-पत्र लिखवाते हैं—गृहस्थों का हाथ चलवाते हैं, उन्हें साधु मत समझो ।५

गृहस्थ से सेवा लेने वाले साधु को भगवान ने अनाचारी कहा है। ऐसा

१—सा० आ० ४।५९; २—सा० आ० ३।१७-१९

३—सा० आ० ३।२२-२४; श्र० आ० ११२।१

४—सा० आ० ३।२७; ५—श्र० आ० ११।२५; सा० आ० ३।३८

इसवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में साफ लिखा है। बुद्धिमान इस पर विचार करें। १

—सन्मान—

किसी बड़े गृहस्थ को आया हुआ देख कर जो हाव भाव से हर्षित होते हैं और उनके लिये आसन आदि बिछाने की आमना करते हैं, उनको साधु मत समझो। २

जो साधु गृहस्थ को आने-जाने, बैठने-उठने के लिए कहता है और ऐसा करने के लिए जगह बतलाता है, उस साधु और गृहस्थ में कोई अन्तर नहीं। एही घाल से किसी को साधु मत समझो। ३

—पात्र गृद्धि—

जो मर जाते हैं या निरुल्ल जास हैं उनके पात्रों के प्रति भी इनकी ममता नहीं छूटती। वे इन पात्रों को स्थानक में धर लेते हैं। जब लोट पात्रों के ढिग को देख कर कोई पृथ्वा है कि इतने एक साथ कहाँ से आए तब कहते हैं कि ये गृहस्थ के हैं, इस तरह जो अलग होने की चेष्टा करते और भ्रूट बोलते हैं, उनमें साधुत्व की कोर भी नहीं होती। गृहस्थ को लोट पात्रे किस लिए चाहिए और फिर वह स्थानक में क्या रखने लगा ? जब जरूरत पड़ती है तो वे इनमें से छे छेते हैं और मरने-धरने से बड़े हुए पात्र इनमें रखा देते हैं। ये लोट और पात्रों के कोट्यगर निश्चय ही उर्दी के हैं। जो अपनी सामग्री को गृहस्थ की बतलाता है, उसे साधु कैंत कहा जाय ? जो मर्यादा से अधिक उपधि रखते हैं, व महा दोषी हैं। जो अधिक रस कर पहिउहन नहीं करत, वे तो निश्चय ही बोहरे चोर—भगवान की अज्ञा के सोपक हैं। ४

१—ध० भा० १११६ २—सा० भा० (११४) ३—गा० भा० ११२५

४—ध० भा० १८१५१-५६



- उपधि संरक्षण -

गृहस्थ को अपनी उपधि—वस्तुएँ सौंपना वह साधु का आचार नहीं है। ऐसा करने वाले साधु जिन-प्रवचन का पालन नहीं करते और मुक्ति-मार्ग से भिन्न मार्ग को पकड़े हुए हैं। १

जो गृहस्थ से अपनी वस्तुओं की देखभाल करवा कर उसे सेवक बनाता है उसे साधु कैसे माना जाय ? ऐसा साधु अपने ममस्त मत्तों को चकनाचूर करता है और प्रत्यक्ष साधु-भाव से दूर होता है। २ जो अपनी वस्तुओं की सार सम्हाल का भार गृहस्थ को दे जाते हैं वे भगवान के वचनों को कुचलते हैं। ३

गृहस्थ सौंपी हुई वस्तुओं को नरुरत पढ़ने पर एक जगह से दूसरी जगह हटाता है। इस तरह गृहस्थ से जो हिमा होती है उसका भागी वह साधु भी होता है। गृहस्थ से बोझ उठवाने वाले साधु को निशीथ सूत्र के चारहवें उद्देश में चौमासी चारित्र्य का छेद कहा है। ४

जो अपनी उपधि को एक दिन के लिये भी बिना प्रत्यक्षेक्षण रखता है उसे निशीथ सूत्र के दूसरे उद्देशक में मासिक दण्ड कहा है। गृहस्थ के घर धरो हुई उपधियाँ महीनों वर्षों पडिलेहन बिना रहती हैं। ऐसी हालत में गृहस्थ के घर उपधि रख कर जाने वाले साधु को साधु कैसे समझा जाय ? ५

—क्षेम कुशल प्रश्न—

जो साधु गृहस्थ से क्षेम-कुशल प्रश्न करता है वह अत्रत का सेवन करता है। ऐसे साधु को दसवैकालिक सूत्र में अनाचारी कहा है। गृहस्थ की क्षेम-कुशल की चिन्ता करने वाले साधु के पाँचों महाव्रत भंग होते हैं। ऐसे अनाचार का सेवन करने वाला साधु कैसे माना जाय ? ६

१—सा० धा० ६।२१; २—सा० धा० ६।२२; ३—सा० धा० ४।२१;

४—सा० धा० ४।२२, २३; ५—सा० धा० ४।२४, २५; ६—सा० धा० ६।२३;

## —आर्थिक सहायता—

माता पिता सगे-स्नेहियों को गरीब देखकर उन्हें धन-धान्य आदि परिग्रह दिलवाना यह भसाधु की शाल है। ऐसा साधु प्रलभ पुगुरु है।

जो न्यातीर्ता को धन दिल्वाता है उसक हृदय से उनका मोह नहीं हटा। जो साधु होकर गृहस्थों की सार-सम्भाल करता है, वह निश्चय ही साधु नहीं।

स्थानांग सृज के तृतीय स्थानक में परिग्रह को अनर्थ का मूल कहा है। जो साधु परिग्रह को दलावी करता है वह पूरा अज्ञानी और मूर्ख है। ऐसे आचारवाले को साधु मत समझो।<sup>१</sup>

जो साधु भावक को अनुकम्पा लकर उसको। स्व दिल्वाता है, उसका दूसरे करण से पांचवां मत भंग होता है और 'तोसरे करण' से पांचा ही मत भंग होते हैं। ऐसे होनाचार वाले को साधु कैसे समझ जाय ?<sup>४</sup>

## —गृहस्थ भोजन—

जो साधु गृहस्थ को खिलाने का उपदेश करता है—जो उपदेश देकर जेमनवार करवाता है वह साधु दखल को तरह है। ऐसे साधु के लिय निधीय में थोमासी दण्ड की ब्यवस्था है। जो मत भंगकर घोट रहित हो जाता है उसे साधु कैसे माला जाय ?

## —गृहस्थ के पाठ बाजोड नहीं छोटाना—

जो साधु गृहस्थ क पाठ बाजोड आदि का उ-ई बाविष देनेकी नियत नहीं रखता और मर्दादा का भंग कर उनका सेवन करता है वह जेम-धर्म की रीति छोड़ चुका। ऐसे भवाचारो साधु के लिये निधीय सूत्र में एक मास का दण्ड कहा है।

## —क्याट खीलना और बन्द करना—

गृहस्थ के घर निधायन के लिय जाने पर यदि द्वार बन्द पाठ है तो सन्ने

१—सा० धा० ४।२६, २—सा० धा० ४।२६, ३—सा० भा० ४।२६

४—सा० भा० १।७, ५—सा० भा० १।८

साधु भिक्षा किए बिना ही लौट जाते हैं पर कठे साधु यह स्वामी की अनुमति अथवा बिना अनुमति ही द्वार खोल कर न प्रवेश कर भिक्षा करते हैं । १

जो कपाट खोलता या बन्द करता है वह पर-पीड़ा को नहीं समझता । जो साधु द्वार खोलता-बन्द करता है वह अहिंसा महान्त को भग करता है । वह सच्चा अणगार नहीं । २

द्वार खोलकर भिक्षा करने वाला साधु जोवा का दिसरु है । आवय्यरु सूत्र का चौथा अव्ययन देखकर इसका निर्णय करो । ३

आर्याओं के लिये द्वार बन्द करने की गत आड़े है, वह शीलादि की रक्षा क हेतु से है । जो साध्विया अन्य किसी प्रयोजन से द्वार बन्द करता खोलती है वे समय और लज्जा को छोड़ चुकीं । ४

जो मल-मूत्र विसर्जन करने के लिये जाते समय या भिक्षाटन के लिए जाते समय द्वार बन्द कर जाती हैं उनका आचार विशुद्ध नहीं । साध्विया आहार के समय भी द्वार बन्द करती हैं । इसी तरह दिनमें अनेक बार द्वार खोलती बन्द करती हैं । ऐसी आर्याएँ केवल साध्वी वेप वारण करने वाली हैं । उनके हृदय में जरा भी विवेक नहीं । ऐसी आचारवाली साध्वियों को साध्विया मत समझो । ५

जो ऐसा शिथिल प्रचार करते हैं कि साधु द्वार बन्द किया हुआ पाये तो द्वार खोल कर भिक्षा कर सकता है वे जिन-मार्ग से विचलित हैं । जो द्वार खोल कर भिक्षा करने में जरा भी पाप नहीं समझते और ऐसी मान्यता को पुष्ट करते हैं उन्हें साधु नहीं समझना चाहिये । ६

### —अंजन डालना—

बिना कारण आँखों में अंजन डालना जिन-आज्ञा के बाहर है--धर्म के बहि-

- 
- १—सा० आ० ४११, १२, २—सा० आ० ३१६; ४३५;  
 ३—सा० आ० ४१५; ४—सा० आ० ४३४, ५—सा० आ० ४३२, ३३;  
 ६—सा० आ० ४१३, १४

## —आयिक सहायता—

जाता रिता स्त्री-स्त्रियों को गराव देखकर उन्हें घब-घान्य यदि परिग्रह दिखाना वह अशुभ को बाल है। देना साधु प्रत्यक्ष ज्ञान है।

जो न्यायियों को घब दिखाना है उसके हृदय से उनका माह नहीं हय। जो साधु होकर गुरुओं की चार-सन्माल करता है, वह निद्वन्द्व हो शत्रु नहीं।

स्वभाव सूत्र के तृतीय स्थानक ने परिग्रह को अनर्थ का मूल कहा है। जो साधु परिग्रह को दलछो करता है वह पूरा अज्ञानी और मूर्ख है। इस आधारवाले को साधु नव समझे।<sup>१</sup>

जो साधु भावक को अशुभना लकर उपद्रोः न्य दिखाना है, उसका दूसरे कर्ण' व पांचवाँ व्रत भंग होता है और तँचरे कर्ण' से पाचों ही व्रत भंग होचें हैं। ऐसे होचरार वाले को साधु कैसे समझ जान ?<sup>२</sup>

## —गृहस्थ भाजन—

जो साधु गृहस्थ को खिलाने का उपदेश करता है —जो उरदस दकर जीवनवार करता है वह साधु दलाल को तरह है। ऐसे साधु के लिये निश्चिन्त में बीनासी दण्ड को व्यवस्था है। जो व्रत भंगकर शील रहित हो जाता है उसे साधु कैसे मना जान ?

## —गृहस्थ के पाट बाजोट नहीं लौटाना—

जो साधु गृहस्थ क पाट बाजोट यदि ल्य उन्हें कश्चित् देनेकी निन्त नहीं रखता और नपादा का भंग कर उनका सेवन करता है वह गैक-धर्म की राति छोड़ चुका। ऐसे अनाचारी साधु के लिये निश्चिन्त सूत्र में एक मात्र का दण्ड कहा है।

## —कपाट खोलना और बन्द करना—

गृहस्थ के घर निश्चिन्त के लिये जाने पर यदि द्वार बन्द पाट हैं तो सच्चे

१—सा० धा० ४।२६; २—सा० धा० ४।२८ ३—सा० धा० ४।२९

४—सा० धा० ६।५ ५—सा० धा० ६।८

साधु भिक्षा किए बिना ही लौट जाते हैं पर कई गाधु गृह स्वामी की अनुमति अवना बिना अनुमति ही द्वार खोल घर में प्रवेश कर भिक्षा करते हैं । १

जो कपाट खोलता या बन्द करता है वह पर-पीड़ा को नहीं समझता । जो साधु द्वार खोलता-बन्द करता है वह अद्विशा महामत को भंग करता है । वह सच्चा अणुगार नहीं । २

द्वार खोलकर भिक्षा करने वाला साधु जोर्वा का दिसक है । अवग्यरु सूत्र का चौथा अवयव देखकर इसका निर्णय करो । ३

आर्याओं के लिये द्वार बन्द करने की बात आरे है, वह शोलादि की रक्षा के हेतु से है । जो साध्विया अन्य क्रिया प्रयोजन से द्वार बन्द करता खोलती है वे समय और लज्जा को छोड़ चुकीं । ४

जो मल-मूत्र विसर्जन करने के लिये जाते समय या भिक्षाटन के लिए जाते समय द्वार बन्द कर जाती हैं उनका आचार विशुद्ध नहीं । साध्वियाँ आहार के समय भी द्वार बन्द करती हैं । इसी तरह दिनमें अनेक बार द्वार खोलनी बन्द करती हैं । ऐसी आर्याएँ केवल साध्वी वेप धारण करने वाली हैं । उनके हृदय में जरा भी विवेक नहीं । ऐसी आचारवाली साध्वियों को साध्वियाँ मत समझो । ५

जो ऐसा शिथिल प्रचार करते हैं कि साधु द्वार बन्द किया हुआ पाये तो द्वार खाल कर भिक्षा कर सकता है वे जिन-मार्ग से विचलित हैं । जो द्वार खोल कर भिक्षा करने में जरा भी पाप नहीं समझते और ऐसी मान्यता को पुष्ट करते हैं उन्हें साधु नहीं समझना चाहिये । ६

### —अंजन डालना—

बिना कारण आंखों में अंजन डालना जिन-आज्ञा के बाहर है--धर्म के बहि-

१—सा० आ० ४११, १२; २—सा० आ० ३१६; ४३५;

३—सा० आ० ४१५; ४—सा० आ० ४३४; ५—सा० आ० ४३२, ३३;

६—सा० आ० ४१३, १४

और उपासक बनने की भावना को बल प्रदान किया। अन्धश्रद्धालु धावकों की तीव्र निष्पक्ष आलोचना उनकी कृतियों में जगह-जगह भरी पड़ी है। एक जगह वे कहते हैं 'इधर साधु हैं जो साधु का विरोध करते हैं पर शुद्ध आचार का पालन नहीं करते और उधर धावक हैं जो दोष सेवन में सहारा देते हैं। दोनों के हृदय में इस प्रकार अन्धकार छाया हुआ है। यह तो अन्धे से अन्धे के मिलने की बात चरितार्थ हो गई। एक ओर कुगुरु हैं और दूसरी ओर विटल—पथप्रद धावक। दोनों ओर ज्ञान-चक्षुओं पर पट्टी बंधी हुई है। अब कौन मार्ग बतलावे?'<sup>१</sup> अपने जमाने के धावकों की टोका करते हुए स्वामीजी बड़े ही उद्बोधक शब्दों में कहते हैं—“देखो। वर्तमान काल के ये धावक झट-मूठ ही धावक कहलाते हैं।

ये 'जीव' 'अजीव' नहीं जानते, न 'आश्रव' 'सवर' की इन्हें खबर है। देखो। ये धर्म समझ कर आश्रव का सेवन करते जा रहे हैं। देखो। ये प्रत्यक्ष भूले हैं।'<sup>२</sup>

वस्त्र, अन्न, जल, स्त्री आदि भोग परिभोग वस्तुओं का सेवन प्रत्यक्ष अव्रत आसव है। पर देखो। आज के ये धावक इनके सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने में धर्म मान बैठे हैं।<sup>३</sup>

देखो। इन्हें देव, गुरु, धर्म रूपी तीन रत्नों की पहचान नहीं। ये केवल थोड़े बादल की तरह गाजा करते हैं। ये धर्म के धोरी हो बैठे हैं पर निरे मूर्ख हैं।<sup>४</sup>

ये धावक श्राविकाएँ मुक्तिमार्ग को विलकुल ही भूले हुए हैं। अपने गुरुओं के लिए स्थानक आदि बनवा कर जीव हिंसा करते हैं और तुर्रायह है कि उसमें धर्म समझते हैं। ये जो हिंसा में धर्म समझ रहे हैं वे नर्क की नींव डाल रहे हैं।<sup>५</sup>

पृथ्वी, जल आदि अनन्त स्थावर काय का घमासान होने पर भी धर्म समझने से आज जगह-जगह स्थानक खड़े हो गए हैं।<sup>६</sup>

पूछने पर वे लज्जावश कहते हैं कि हमने साधुओं के लिए नहीं पर अपने सहक

१-श्र० आ० १६।१२, २- श्रा० न० ३०; ३- श्रा० न० ३१;

४-श्रा० न० ३२; ५-श्रा० न० २, ६-श्र० आ० ६-८;

देलो ! ये श्रावक घुग्घू सरोरों हो रहे हैं जिन्हें दिन दहाड़े होता हुआ अनाचार भी नहीं दिमाई देता । १

अहो ! इन अन्धों को न्याय मार्ग की बात जरा भी नहीं दीगती । ये तो पाखण्ड में लीन हैं । इन के घट में घोर मिथ्यात्व है । २

अहो यह पाचवीं आरा निश्चय ही दुपम काल है । आज के गृहस्थ केवल "श्रावक" और "श्राविका" नाम ही धारण करते हैं । ये गुण हीन फूटे ठोकरे की तरह हैं जिनके लिए नर्क ही ठीक स्थान है । ३ इन श्रावक श्राविकाओं का काम ही दिन-रात हीनाचारी गुरुओं की सेवा करना रह गया है । झूठी पक्षपात कर ये झूठों को सच्चा साबित करने को चेष्टा करते रहते हैं । ४

अपने गुरुओं के दोष तो ये इस प्रकार ढक देते हैं परन्तु शुद्ध साधु पर दोष मढते हुए ये पापी जरा भी सकोच नहीं करते । ये शुद्ध साधुओं की निन्दा करते रहते हैं—उन्हें देखते ही इनके हृदय में द्वेष जाग उठता है और उनके प्रति वैरी और शौतका-सा व्यवहार करते हुए विशेष छिद्रान्नेपण करते हैं । दूसरों के सिर झूठे आल देने में ये जरा भी आलसी नहीं । साधु से घैर ठानने'के लिए ये सब एक हो जाते हैं और भोले लोगों को पीछे लगा देते हैं । ५

जिनके कुगुरु से अत्यन्त मोह है और साधुओं से अत्यन्त द्वेष उनके दोनों ओर दिवाला है । जो श्रावक, कुगुरुओं की पक्षपात करते और अपनी पकड़ी हुई बात को कभी नहीं छोड़ते उनके घट में मिथ्यात्व रूपी घोर अधकार है ।"६

भगवान ने श्रावकों को पिता तुल्य बतलाया है । जैसे पिता अपनी सन्तति की रक्षा करते हैं उसी तरह जो साधुओं के धर्म जीवन के पोषक और रक्षक हों वे ही श्रावक वास्तव में श्रावक हैं । जो साधुओं में घुसे हुए नाजा दोषों और अना-

१—श्रा० आ० ढा० ९ दो० १—३, ८, २—श्रा० न० दो० ३

३—श्रा० न० दो० १ ; ४—श्रा० न० दो० २ ; ५—श्रा० न० १७, १८ २५;

६—श्रा० न० ५५, ५

चारों के प्रति आँसू मूढ़ उनके शिथिलाचार का पोषण करते हैं वे भावक, भावक नहीं, जैन धर्म के छुटरे हैं। स्वामीजी के समय के भावक पितृ-तुल्य विरद को खो चुके थे। ऐसे हीनाचारी भावकों के प्रति स्वामीजी के हृदय में जो तीन तूफान था उसका अन्दाजा उपरोक्त उद्गारों से लगाया जा सकता है। भावक और साधु समाज के पतन से उनके हृदय में जो एक गहरी वेदना और आह छाई हुई थी, वह उनके प्रत्येक शब्द से फूट पड़ती है। एक बार स्वामीजी से किसी ने पूछा “आपने अपनी रचनाओं में किस समय के भाव दिखलाये हैं ?” स्वामीजी बोले ‘हम कोई ज्योतिषी नहीं कि आषाढ़ महीने में कार्तिक महीने का भाव कहे। हम तो वर्तमान भावों के ही वर्णन करने वाले हैं। हम आगे की नहीं बतलाते। वर्तमान में जैसा चारित्र्य है उसी की चर्चा करते हैं।’ स्वामीजी ने अपन अमाने के शिथिलाचार के विरुद्ध घोर क्रांति मचाई थी। एक जगह विरुद्ध चार को दिखाते हुए स्वामीजी लिखते हैं :

“कई ऐसे भावक हैं जो कई को उखाड़ कर वर्षाती वर्षा में मूढ़ मिट्टी डालते हैं। इस तरह अनन्त जीवों का घमासान करने में पापी जीव बरा भी शक नहीं करते। इस तरह भावक खुद डूबते और गुहर्षों को अष्ट कर आत्मा को कलकित करते हैं। जो साधुओं के निमित्त विषम जगह को छोड़ सम करते हैं और इस तरह नीलण-फूलण - कई, हरे अक्षर और चींटी-मकोड़ादिक को नष्ट करते हैं या मिट्टी के नीचे दबाते हैं उनकी बुद्धि नहीं विपरीत—घम प्रतिकूल है। बहुत से भावक साधुओं के निमित्त जगह बहर जो अनेक खात कचरादि पड़ा होता है उसे इच्छा कर देते हैं और फिर टोकरियों में भरा बाहर डलवाते हैं। इसी तरह साधु के लिये भावक दण्ड लिपवाते हैं, छरा छावाते और चंदवा ताड़ बघवाते हैं। इस तरह जो विविध रूप से जीवों को घात करते हैं वे भावक



जैन धर्म को नहीं पहचानते । १९ ऐसे अशुभ कर्मों का बंध करते हैं । स्थानांग सूत्र के तृतीय स्थानक और भगवती सूत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख है ।” २

ऊपर में हमने जो अवतरण दिये हैं उनसे स्पष्ट है कि स्वामीजी साधु और श्रावक के परस्पर सम्बन्ध को पवित्र और नियमविहित देखना चाहते थे । एक दूसरे का जीवन उत्थान की ओर ले जाने वाला हो पतन की ओर नहीं, पूज्य गुणों से पूजास्पद बने, उपासक अपनी उपासना में पवित्र हो, गुणों को पूजा हो । केवल वेप की प्रतिष्ठा न रहने पावे— स्वामीजी की क्रांति का मूल लक्ष्य यही था ।

स्वामीजी ने जैन सस्कृति और जीवनभादर्श को पुनर्जीवित करने के लिए जो महान् आदोलन मचाया था उसकी संक्षिप्त रूप रेखा इस अध्ययन और इसके पूर्व के प्रकरणों में आ चुकी है । स्वामीजी एक महान् व्यवस्थापक थे । उन्होंने चतुर्विध जैन संघ को पुनर्संगठित कर उसे किस तरह एक सजीव सस्था के रूप में खड़ा किया था—इसकी चर्चा आगे यथास्थान आनेवाली है । स्वामीजी ने जनता को शुद्ध दृष्टि और सच्ची श्रद्धा दी । जैन धर्म के नाम पर जो अनेक मिथ्या मान्यताएँ चल पड़ी थीं और जिससे जैन-दर्शन एक महान् जटिल रूप धारण कर चुका था, स्वामीजी ने उन सारी मान्यताओं के प्रति भीषण क्रांति मचा शुद्ध जैन दर्शन का प्रकाश फैलाया । भगवान् महावीर को ३६३ मतों के सम्मुख लड़ कर जैन धर्म का उद्धार करना पड़ता था । स्वामीजी के समयके वादों की कोई गिनती नहीं की गई । परन्तु उनकी संख्या अधिक ही होगी कम नहीं—ऐसा स्वामीजी के समय के साहित्य के पढ़ने से स्पष्ट है ये सभी वाद जैन धर्म के नाम से चलते थे । स्वामीजी ने विवेक दिया कि शुद्ध जैन दर्शन और धर्म क्या है । स्वामीजी की क्रांति के इस एक विशेष पहलू की चर्चा भी हम आगे एक स्वतन्त्र प्रकरण के लिए रख इस अध्ययन को यहीं समाप्त करते हैं ।

चारों के प्रति आंखें मूढ़ उनके द्विधिलाचार का पोषण करते हैं वे भावक, भावक नहीं, जैन धर्म के कुटरे हैं। स्वामीजी के समय के भावक 'पितृ-तुल्य' निरद को खो चुके थे। ऐसे हीनाचारी भावकों के प्रति स्वामीजी के हृदय में जो तीव्र तूफान या उसका अन्दाजा उपरोक्त उद्गारों से लगाया जा सकता है। भावक और साधु समाज के पतन से उनके हृदय में जो एक गहरी केशना और आह छाई हुई थी, वह उनके प्रत्येक शब्द से फूट पड़ती है। एक बार स्वामीजी से किसी ने पूछा "आपने अपनी रचनाओं में किस समय के भाव दिखलाये हैं ?" स्वामीजी बोले 'हम कोई ज्योतिषी नहीं कि आषाढ़ महीने में कार्तिक महीने का भाव कहे। हम तो घतमान भावों के ही वर्णन करने वाले हैं। हम आगे की नहीं बतलाते। घतमान में जैसा चारित्र्य है उसी की चर्चा करते हैं।" स्वामीजी ने अपने अमाने के द्विधिलाचार के विरुद्ध जोर क्रांति मचाई थी। एक जगह विरुद्ध-चार को दिखाते हुए स्वामीजी लिखते हैं :

‘ कई ऐसे भावक हैं जो कार्य को उखाड़ कर बर्षाती वर्षा में मूर्ख मिट्टी डालते हैं। इस तरह अनन्त जीवों का घमसात करने में पापी जीव जग भी शक्य नहीं करते। इस तरह भावक खुद डूबते और गुरुओं को भ्रष्ट कर आत्मा को कलकित करते हैं। जो साधुओं के निमित्त विषम जगह को खोद घम करते हैं और इस तरह नीलण-फूलण- कार्य, हरे अक्षर और चींटी-मकोड़ादिक को नष्ट करते हैं या मिट्टी के नीचे दबाते हैं उनको बुद्धि बढ़ी विपरीत—घर्म प्रतिकूल है। बहुत से भावक साधुओं के निमित्त जगह बहुर जो अनेक खात कचरादि पड़ा होता है उसे इकट्ठा कर देते हैं और फिर टोकरीयों में भरा बाहर डलवाते हैं। इसी तरह साधु के लिये भावक दूध लिपवाते हैं, छगर छवाते और चँदना तट्टा बधवाते हैं। इस तरह जो विविध रूप से जीवों को घात करते हैं वे भावक

जैन धर्म को नहीं पहचानते । ऐसे अशुभ कर्मों का भय करते हैं । स्थानाग सूत्र के तृतीय स्थानक और भगवतो सूत्र में इमहा स्पष्ट उल्लेख है ।” २

ऊपर मैं हमने जो अवतरण दिये हैं उनसे स्पष्ट है कि स्वामीजी साधु और श्रावक के परस्पर सम्बन्ध को पवित्र और नियमविहित देखना चाहते थे । एक दूसरे का जीवन उत्थान की ओर ले जाने वाला हो पतन की ओर नहीं, पृथ्वी गुणों से पूजास्पद बने, उपासक अपनी उपासना में पवित्र हो, गुणों को पूजा हो । केवल वेप की प्रतिष्ठा न रहने पावे— स्वामीजी की क्रांति का मूल लक्ष्य यही था ।

स्वामीजी ने जैन सस्कृति और जीवनभादर्श को पुनर्जीवित करने के लिए जो महान् आदोलन मचाया या उसको संक्षिप्त रूप रेखा इस अध्ययन और इसके पूर्व के प्रकरणों में आ चुकी है । स्वामीजी एक महान् व्ययस्यापक थे । उन्होंने चतुर्विध जैन संघ को पुनर्संगठित कर उसे किस तरह एक सजीव सस्था के रूप में रचा किया था—इसकी चर्चा आगे यथास्थान आनेवाली है । स्वामीजी ने जनता को शुद्ध दृष्टि और सच्ची श्रद्धा दी । जैन धर्म के नाम पर जो अनेक मिथ्या मान्यताएँ चल पड़ी थीं और जिससे जैन-दर्शन एक महान् जटिल रूप धारण कर चुका था, स्वामीजी ने उन सारी मान्यताओं के प्रति भीषण क्रांति मचा शुद्ध जैन दर्शन का प्रकाश फैलाया । भगवान् महावीर को ३६३ मतों के सम्मुख लड़ कर जैन धर्म का उद्धार करना पड़ता था । स्वामीजी के समयके वादों की कोई गिनती नहीं की गई । परन्तु उनकी संख्या अधिक ही होगी कम नहीं—ऐसा स्वामीजी के समय के साहित्य के पढ़ने से स्पष्ट है ये सभी वाद जैन धर्म के नाम से चलते थे । स्वामीजी ने विवेक दिया कि शुद्ध जैन दर्शन और धर्म क्या है । स्वामीजी की क्रांति के इस एक-विशेष पहलू की चर्चा भी हम आगे एक स्वतन्त्र प्रकरण के लिए रख इस अध्ययन को यहीं समाप्त करते हैं ।

## ६ वैराग्यमूर्ति

### एक संगम

स्वामीजी एक महान् वैरागी साधु थे। ससार से तीव्र उदासीन-भाव और परमाथ में अत्यन्त लब्धलीनता—ये दोनों बातें समुद्र में लहरों की तरह उनकी अन्तर भावनाओं में क्रोड़ा करतीं। स्वामीजी एक विचक्षण तरवज्ञानी और महान् अध्यात्मिक सत पुरुष थे। वैराग्य और धर्म उनकी धमनियों में उसी तरह बहा करता जिस तरह जीवन देनेवाला रक्त। उनके वैराग्य की कथाओं को सुनिये आपका हृदय सवेग रस से परिप्लावित हो जायगा, उनके गंभीर तत्त्वज्ञान पर दृष्टि डालिये आपका दृष्टि-उन्मेष हो जायगा और उनकी सरस आध्यात्मिकता पर विचार कीजिये आप आत्मसमाधि में लब्धलीन हो जायेंगे। एक अनूठे वैरागी, एक अनूठे ज्ञानी, एक अनूठे योगी—स्वामीजी एक अद्वितीय पुरुष थे। वे ज्ञान, वैराग्य और अध्यात्म के एक पवित्र संगम थे।

### वैराग्यभाव की कथाएँ

स्वामीजी ने २५ वर्ष की पूर्ण भौवनावस्था में दीक्षा ली। गृहवास में ही सह-पत्नीक ब्रह्मचर्य पालन करना शुरु किया। दीक्षा के पूर्व दोष काष्ठ तक एकान्तर उपवास की समस्या करते रहे। इन सबसे उनके मन की तीव्र वैराग्य भावना का सुन्दर विरदहन होता है। सांसारिक सुखों के प्रति उनके हृदय में सहज किन्नभाव था। विषयभोग के प्रति उनको अनासक्ति और निस्पृहता में एक गहरी सज्जता थी, जो अन्तिम क्षणों तक एक रस बनी रही। 'योगी भर्माई संसारे अभोगी विष्णुमुचर्चई'—भगवान के ये वचन उनके जीवन के दिशासूचक यंत्र बन गये थे। जीवन की अनिश्चिता उनके हृदय में एक अतुल्य विराग की तरह बजती

और इसी कारण अपने जीवन के प्रति धृग वे मानग रहने । "समयं गोमय मा पमायए"—"समय मात्र के लिये भी प्रनाद मन कर"—भगवान् को यह सिखा उनके जीवन का असिमत हो गया था ।

जीवन की अनित्यता को स्वामीजी ने अनेक स्थलों पर यद्दे सुन्दर उग में सम-भाषा है । एक जगह वे कहते हैं—"जीवन कृग के ताग हो तरः अनिह ?" । अन्य जगह वे कहते हैं "जीवन क्षवी के वान ही तरः चञ्चल—आक्षिपर क्षीय है । जीवन की इस क्षण भगुरता को मन्मत्त र्ने के कारण हो व अपने जीवन के पन्तल ल लेखा लगा सके ।

भगवान् ने विषयों को तालपुट विष ल उपमा दी है । उन्हें ध्याक फल कहा है, जो खाने में मोठे और फल में घातक विष को तरद होते हैं । स्वामीजी ने पौद्गलिक सुतों पर चिन्चन करते हुए लिखा है: "जते पाप रोगों को मान उसके रोग के कारण ही सुतकारी लगती है उगी तरद वेपयिक सुत आत्म-विचार के कारण मोठे लगते हैं । जहर चढ़ने पर नीम मोठा लगने लगता है उगी तरद कर्म रोग से पीड़ित होने के कारण ही जीव को पौद्गलिक सुग मभुर लगते हैं । जैसे खुजलाने से पाव रोग नहीं मिटता उगी तरद काम भोगों के सेवन से आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता । इन सुगों को पाकर जो सुदा होता है, उसके पाप कर्म का संचय होता है जिससे आखिर में उसे नर्क निगोदादि के दुःख भोगने पड़ते हैं । आत्मिक सुख शाश्वत होते हैं । वे वाण वस्तु को अपेक्षा नहीं रखते । वे हो वास्तव में काम्य हैं । पौद्गलिक सुख तो रोगीले सुख हैं ।" स्वामीजी सदा आत्मिक सुख की खोज में लवलीन रहते ।

स्वामीजी ने एक जगह कहा है: "शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है तो भी आशा की पूर्ति नहीं होती । यह कितना आश्चर्य है ! मैं उसकी बलिहारी जाता हूँ जो तख्णावस्थामें सब भोगों को पीठ दिखा कर महाव्रतों को ग्रहण करता है । हे जीव ! हृदय में विचार कर देख । हे गवार ! विषय सुख में रतपत हो थोड़े सुख के लिये

इस मनुष्य जीवन को क्यों खोता है ?" स्वामीजी ने कितने सुन्दर ढंग से विषयों से निरत हो परमात्ममें लयलोन होने के लिये सांसारिक आत्माको उद्वबोधित किया है

स्वामीजी की वैराग्यमय चित्तवृत्ति की श्रृंखली निम्नलिखित घटना से भी स्पष्ट रूप से होती है। हेमराजजी महाराज गृहस्थ थे उस समय की बात है। एकबार उनकी एकमात्र बहिन को उनके मामा अपने घर ले गये। हेमराजजी महाराज का अपनी बहिन से बड़ा स्नेह था। बहिन के पास न रहनेसे उनका मन अत्यन्त उदास हो गया। स्वामीजी के पास आकर बोले "स्वामीनाथ ! भाव मेरा मन बहुत उदास हो रहा है। मन में आता है कि किसी ऊट-सवार को भेजकर बहिन को आज ही वापिस बुला लू।" स्वामीजी बोले "सांसारिक सुखों में गही अनित्यता है। ससार में संयोग वियोग है। आत्मिक सुख ही वास्तव हैं।"

स= १८५५ का चतुर्मास स्वामीजी ने पाळी में किया। एक दिन मुनि खेतसीजी को रात के समय बहुत उलटियाँ हुईं और दर्दें कहीं। स्वामीजी ने हेमराजजी को जगाते हुए कहा, "उठो ! खेतसी रास्ते में पड़े हैं। उठकर एक ओर सुलवें।" दोनों ने उठकर खेतसीजी को एक तरफ धलाया और उनके सिराहने से एक नई पछेवकी निकाल कर उन्हें ओढ़ा दी। फिर स्वामीजी हेमराजजी से बोले: "ससार की माया कभी है। देखो ! देखते-देखते खेतसीजी को क्या हो गया ?" थोड़ी देर बाद कुछ ठीक होने पर खेतसीजी बोले "रुपाजी को अच्छी तरह पढ़ाएगा।" स्वामीजी बोले : "रुपाजी की चिन्ता न करो। भगवान का भजन करो।"

यह छोटी-सी घटना स्वामीजी की अन्तर वृत्तियों का बड़ा सुन्दर परिचय देती हैं। बीमारी के समय सारी चिन्ताएँ छोड़कर प्राणों को किस तरह आत्म-समाधि में तत्वीन हो जाना चाहिए—इसका सुन्दर बोध इस घटना में है। स्वामीजी ने बतलाया है कि अन्तिम श्मश्रुत अरुनी आत्मा को विज्ञा करना ही सबसे बड़ा परमाध है।

स्वामीजी के हृदय में वैराग्य की उत्ताल तरंगे इसी तरह लहराया करतीं। उनके जीवन को वैराग्य कथाएँ बड़ी अद्भुत हैं। उन्होंने एक बार कहा था : “कस्तूरे को जल में डाल देने पर भी उस समय तक वह रत्न नहीं चढ़ा सकता जब तक वह स्वयं गलता नहीं, उसी तरह साधु जब तक वैराग्य में पूरा रगता नहीं तब तक दूसरों को वैराग्य में नहीं रत्न सकता।” वैराग्य की साधना ही स्वामीजी की दृष्टि में सबसे बड़ी साधना थी।

अन्त समय में, जब कि स्वामीजी अनशन का निश्चय कर चुके थे, मुनि तसी स्वामीजी से बोले: “आपने धर्म का बड़ा उद्योत—प्रकाश किया। आप न्गण्ड देवलोक में जाते दिखाई देते हैं।” स्वामीजी बोले : “सतयुगी। मुझे देवलोक की जरा भी चाह नहीं। स्वर्गादि के सुख पौद्गलिक हैं। अनन्त वार जीव इन पौद्गलिक सुखों को भोग चुका पर उससे कभी उस की तृप्ति नहीं हुई। मेरा मन तो मुक्ति में लीन है, जहाँ कि शाश्वत आत्मिक सुख हैं। मैं तो देवलोक की आकांक्षा नहीं करता। मुझे तो मुक्ति की ही चाह है।”

पाठक देखें कि “इहलोगासंसम्पओगे, परलोगाससम्पओगे, \* \* \* कामभोगाससम्पओगे मा मुञ्ज हुज मरणन्तइ” किस तरह स्वामीजी की जीवन-सरिता का चिर किल्लोल बन गया था। अन्तिम समय में उन्होंने वालक मुनि रायचन्दजी को उपदेश दिया था : “तुम वालक हो। मोह मत लाना।”

मोह को—राग को जैन सिद्धान्त में पिशाच कहा है। स्वामीजी ने अत्यन्त प्रबल पुरुषार्थ से इस पिशाच को जीतकर उत्कट वीतरागभाव की प्राप्ति की। स्वामीजी एक विरले वैरागी योगी ५।

: ६ :

## संस्कारी तत्त्वज्ञानी

स्वामीजी जैसे बैठनी थे, वैसे ही महान् तत्त्वज्ञानी भी। वे जन्म-जात महान् दार्शनिक उपदेशक थे। तत्त्वों का सूक्ष्म ज्ञान और सरल विवेचन स्वामीजी की एक अनन्य विशेषता थी। उनका जैन शास्त्रों का तल्लसपची अध्ययन और चर्चाचर्चा कर देने वाली बहुभुतता तो आज भी अपनी सानी नहीं रखती। उनकी रचनाओं में महान् आगम-बोधन है, साथ ही एक उद्भट तत्त्वज्ञानी का गम्भीर विचार और विश्वास। उनकी अतीतिक दार्शनिकता स्वाध्याय की उच्च भूमि में जन्मी और वृद्धिनी कुटि और विवेकपूर्ण तर्क से काय और रस पा विस्तृत रूप से फूलीफली थी। जैन तत्त्वज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में स्वामीजी की देन इतनी महान् है कि उसका कोई भी मूल्यांकन अधिक नहीं हो सकता। जैन जगत् के इतिहास में स्वामीजी का नाम अभिष्ट अक्षरों में लिखा रहेगा।

स्वामीजी का तत्त्वज्ञान उनकी कृतियों में जगह-जगह छिपा पड़ा है। उनके गभीर तत्त्वज्ञान को दिव्य शक्ति उनके 'तेरह द्वार' के थोकेड़े और 'नव तत्व' की ढालों परसे मिलती है। जैन तत्व का जैसा सूक्ष्म और स्पष्ट विवेचन स्वामीजी की कृतियों में है वैसा देखने में नहीं आता है। यहाँ हम स्वामीजी की कृतियों से कुछ विवेचन उपस्थित करेंगे, जिससे पाठकों को उनके महान् तत्त्वज्ञान का कुछ अन्दाजा हो सके।

### नव पदार्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण

जैन दर्शन में ९ पदार्थ बतलाये गये हैं — जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आधन संवर, बंध, निर्गण और मोक्ष। स्वामीजी ने इन नौ तत्वों का सूक्ष्म विशद विवेचन किया है। संक्षेप में वह इस प्रकार दिया जा सकता है.



१—जीव चेतन पदार्थ को कहते हैं । जिन-जिन द्रव्य में योग, उपयोग, ऐश्या गुणस्थान, पर्याप्ति और प्राण हैं वह द्रव्य निश्चय ही जीव है । जीव को भगवतो सृष्ट के सातवें श्रुतस्वरूप में शाश्वत और अशाश्वत दोनों कहा है । द्रव्यतः वह शाश्वत है और भावतः अशाश्वत । भावतः जीव को अशाश्वत इत्यलिये कहा है कि उसकी पर्यायें पलटती रहती हैं और द्रव्यतः उसे शाश्वत इत्यलिये कि जीव कभी अजीव नहीं होता । उदाहरणार्थ सोने के गहनों को तुझ-तुझ कर और-और आकार में घड़ाने से आकार का विनाश होता है पर सोने का विनाश नहीं होता, वैसे ही कर्मों के उदय से जीव की पर्याय-अवस्था पलटती-परिवर्तित होती है पर मूल चेतनगुण का विनाश नहीं होता ।

२—अजीव अचेतन पदार्थ को कहते हैं । इसके पांच भेद हैं :

(१) घर्मास्तिकाय—यह द्रव्य एक द्रव्य है । क्षेत्र से लोक प्रमाण है । काल से आदि अन्तरहित है । भाव से अरूपी है । गुण से जीव और पुद्गल को चलने में सहारा देनेवाला है ।

(२) अधर्मास्तिकाय—यह द्रव्य से एक द्रव्य है । क्षेत्र से लोक प्रमाण है । काल से आदि अन्त रहित है । भाव से अरूपी है । गुण से जीव पुद्गल को स्थिर होने में सहारा देनेवाला है ।

(३) आकाशास्तिकाय—यह द्रव्य से एक द्रव्य है । क्षेत्र से लोक अलोक प्रमाण है । काल से आदि अन्त रहित है । भाव से अरूपी है । गुण से—वस्तुओं को स्थान् देनेवाला—भाजन गुणवाला है ।

(४) काल—यह द्रव्य से अनन्त द्रव्य है । क्षेत्र से अद्वाइ द्वीप प्रमाण है । काल से आदि अन्त रहित और भाव से अरूपी है । गुण से, वर्तनगुणवाला—चिताने वाला है ।

(५) पुद्गलास्तिकाय—द्रव्य से अनन्त द्रव्य है । क्षेत्र से लोक प्रमाण है । काल से आदि अन्त रहित है । भाव से रूपी और गुण से गलन-मिलन गुणवाला है ।

३—पुण्य—अर्थात् शुभ कर्म । पुण्य पुद्गल की एक पर्याय—उसका

: ६ :

## सस्कारी तत्त्वज्ञानी

स्वामीजी जैसे वैरागी थे, वैसे ही महान् तत्त्वज्ञानी भी। वे जन्म-जात महान् दार्शनिक उपदेशक थे। तत्त्वों का सूक्ष्म ज्ञान और सरल विवेचन स्वामीजी की एक अनन्य विशेषता थी। उनका जैम शास्त्रों का तत्त्वस्यर्शी अध्ययन और चक्रबौध कर देने वाली बहुभुतता तो आज भी अपनी सानी नहीं रखती। उनकी रचनाओं में गहरा आगम-स्रोहन है, साथ ही एक बखूब तत्त्वज्ञानी का गम्भीर विचार और चिन्तन। उनकी अतौकिक दार्शनिकता स्वाध्याय को उच्च भूमि में जन्मी और दूरदर्शनी बुद्धि और विवेकपूर्ण तर्क से खाय और रस पा विस्तृत रूप से फूलीफली थी। जैन तत्त्वज्ञान और दशन के क्षेत्र में स्वामीजी की देन इतनी महान् है कि उसका कोई भी मूल्यांकन अधिक नहीं हो सकता। जैन जगत् के इतिहास में स्वामीजी का नाम अभिष्ट अक्षरों में लिखा रहेगा।

स्वामीजी का तत्त्वज्ञान उनकी कृतियों में जगद्-जगद् छिपा पड़ा है। उनके गभीर तत्त्वज्ञान को दिव्य भाँकी उनके 'तेरह द्वार' के चोकेड़े और 'नव तत्व' की ढालों परसे मिलती है। जैन तत्व का जैसा सूक्ष्म और स्पष्ट विवेचन स्वामीजी की कृतियों में है वैसा देखने में नहीं आता है। यहाँ हम स्वामीजी की कृतियों से कुछ विवेचन उपस्थित करेंगे, जिससे पाठकों को उनके महान् तत्त्वज्ञान का कुछ अन्दाजा हो सके।

### नव पदार्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण

जैन दशन में ९ पदार्थ नतलये गये हैं :—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव संवर, मय, निर्गम और मोक्ष। स्वामीजी ने इन नौ तत्वों का सूब विषय विवेचन किया है। संशेष में वह इस प्रकार दिया जा सकता है.

रूपान्तर है। जो पुद्गल—कर्म—जीव के आ-आ कर लगते हैं और उदयावस्था में—फलावस्था में शुभ—सुखरूप होते हैं उन्हें पुण्य कहते हैं। पुण्य कर्म से जीव को सुख होता है।

४—पाप—अर्थात् अशुभ कर्म । पाप जो पुद्गल द्रव्य है। जो पुद्गल कर्म जीवके आ-आ कर लगते हैं और उदयावस्था में—फलावस्था में दुःख उत्पन्न करते हैं उन्हें पाप कहते हैं। पाप जीव को दुःख का कारण होता है।

पाप पुण्य को समझने के लिए पथ्य-अपथ्य आहार का दृष्टान्त है। कमी जीव के पथ्य आहार घटता और अपथ्य बढ़ता है तो जीव को आरोग्यता घटती और सरोगता बढ़ती है। कमी जीव के अपथ्य आहार घटता है और पथ्य बढ़ता है तब जीव के अस्वस्थता घटती और आरोग्यता बढ़ती है। पथ्य अपथ्य दोनों आहार घट जाने पर प्राणी मृत्यु प्राप्त करता है। इसी तरह जीवके पुण्य घटते और पाप बढ़ते हैं तो सुख घटता और दुःख बढ़ता है। कमी जीव के पाप घटता और पुण्य बढ़ता है तो सुख बढ़ता और दुःख घटता है। पुण्य पाप दोनों के क्षय होने से जीव मोक्ष पाता है।

५—आचार्य कर्म ग्रहण करे को आश्रय तत्व है। उसे पहचानने के लिए तीन दृष्टान्त मय पांच कथन कहे जाते हैं।

(१) प्रथम कथन

- (२) मकान के दरवाजे को बंद करने की तरह जो जीव के आसन स्त्री नाले को बंद करे वह संवर ।
- (३) नाभ के छिद्र को रुधने की तरह जो जीव के आसन स्त्री छिद्र को रुधे वह संवर ।

७—निर्जरा देश से (अक्षरूप में) कर्मों को तोड़ कर जीव का देशत (अक्षर) उज्वल होना निर्जरा है । इसे समझने के लिए तीन दृष्टान्त हैं :

- (१) तालाब के पानी को मोरी आदि द्वारा निकाला जाता है उसी तरह भले भाव की प्रवृत्ति द्वारा कर्मस्त्री जल निकाले वह निर्जरा ।
- (२) मकान का कचरा बुहार-बुहार कर बाहर निकाला जाता है, उसी तरह भले भावों की प्रवृत्ति द्वारा जीव कर्म स्त्री कचरा बाहर निकाले वह निर्जरा ।
- (३) नाभ का जल उलीच-उलीच कर बाहर निकाला जाता है, उसी तरह भले भाव की प्रवृत्ति द्वारा जीव कर्म स्त्री जल बाहर निकाले वह निर्जरा ।

८—बन्ध जीव प्रदेश के साथ कर्मोन्म जो बन्धन होता है, (उसे बन्ध कहते हैं) । इसे समझने के लिए तीन दृष्टान्त हैं .—

- (१) तेल और तिल लोलीभूत—एकमेक होते हैं, उसी तरह बन्ध से जीव कर्म लोलीभूत—एकमेक होते हैं ।
- (२) घृत घृथ लोलीभूत—एकमेक होते हैं, उसी तरह बन्ध से जीव कर्म लोलीभूत—एकमेक होते हैं ।
- (३) भातु मिट्टी लोलीभूत—एकमेक होते हैं, उसी तरह बन्ध से जीव कर्म लोलीभूत—एकमेक होते हैं ।

बन्ध के चार भेद होते हैं

- (१) प्रकृति बन्ध—बन्धे हुए कर्मों की प्रकृति—स्वभाव की दृष्टि से ।
- (२) स्थिति बन्ध—बन्धे हुए कर्मों की काल-स्थिति की दृष्टि से ।

एक-एक तालाब की तरह है, जो कम रूपी जल से सम्पूर्ण भरा हुआ है। जैसे तालाब को खाली करने के लिए पहले जल आने के नाले बंद कर दिये जाते हैं, उसी तरह कर्मों का अन्त लाने के लिए पहले आस्रवों को रोकना होता है। यही संवर है। नाले को बंद करने के बाद तालाब की मोरियों को खोल कर जल बाहर निकाल दिया जाता तब तालाब कुछ-कुछ खाली होता जाता है उसी तरह आस्रव को संवर द्वारा रोक, नए बंध को मिटा, रहे हुए कर्मों का अंत करनेके लिए तपस्यादि करना पड़ता है। इस तरह जीव कुछ-कुछ उज्वल होता जाता है। यही निर्जरा है। निर्जरा तालाब के अंश रूप में खाली होने की तरह है। जब निकालते २ सारा जल निकाल दिया जाता है तो तालाब सम्पूर्णत खाली हो जाता है, उसी तरह तपादि क्रिया करते-करते जब जीव अपने प्रदेशों में रहे सम्पूर्ण कर्मों को क्षय कर सम्पूर्ण उज्वल हो जाता है तो मुक्त कहलाता है। खाली तालाब की तरह जीव के सर्व प्रदेशों का सर्व कम रहित होना—यही मोक्ष है।”

नवतत्व का उपरोक्त विवेचन स्वामीजी की निस्तृत रहस्यपूर्ण कृतियों के आधार से खूब संक्षेप में किया गया है। जिन्हें जैन नव तत्व का कुछ भी परिचय है और जो इस सम्बन्ध में थोड़ा भी अध्ययन रखते हैं, उन्हें इस संक्षिप्त विवेचन में भी चमत्कार और काफी मौलिकता दृष्टिगोचर होगी। जो स्वामीजी की नव पदार्थ जैसी कृतियों का सम्पूर्ण अध्ययन करेंगे उन्हें नव तत्वों पर काफी नया प्रकाश मिल सकेगा। द्रव्य जीव और भाव जीव, जीव के पाँच भाव, काल द्रव्य जैसे हैं, प्रदेश और परमाणु का अंतर काल के स्पर्ध कर्मा, पुण्य और पाप की परिभाषा, “पुण्य का बंध कैसे होता है, आस्रव और कर्म में भेद, आस्रव जीव है या अजीव, संवर क्या है, अयोग संवर कैसे होता है, अज्ञान निर्जरा और सकाम निर्जरा, बंधके चार प्रकार, सांसारिक सुखों की तुलना, मोक्ष के सार्थभौम उपाय, विद्वों की विभूतियाँ आदि अनेक विषयों का तल्लस्पती विवेचन हृदय में ज्ञान की रश्मियाँ फैला देता है। आठों कर्मों का भिन्न भिन्न दृष्टियों से विवेचन दो इस कृति में आदि स अन्त तक ओत-प्रोत है।

तीनों काल में शाश्वत बतलाया है। ये तीनों ही अलग-अलग द्रव्य हैं और उनके गुण पर्याय भी अलग अलग हैं। तीनों ही काल में इन के गुण पलटते नहीं पर शाश्वत रहते हैं। ये तीनों ही द्रव्य केवल फैले हुए हैं, जरा भी हलन-चलन नहीं करते। केवल जीव और पुद्गल हलन-चलन करते हैं और लोक में फिरते रहते हैं। जीव और पुद्गल चलते हैं उन्हें सहाय धर्मास्तिकाय होता है। अनन्त जीव पुद्गलों को सहायक होने से उस की अनन्त पर्याय कही गई है। जीव और पुद्गल स्थिर होते हैं, उन्हें अधर्मास्तिकाय सहायक होती है। उसकी भी अनन्त पर्याय उपरोक्त हेतु से होती है। जीव अजीव आदि सर्व द्रव्यों का भाजन आकाशास्तिकाय है। अनन्त जीव अजीव द्रव्यों का भाजन होने से इस की अनन्ती पर्याय होती है। धर्मास्तिकाय का गुण चलने में सहारा देना, अधर्मास्तिकाय का गुण स्थिर रहने में सहारा देना आकाशास्तिकाय का गुण सर्व द्रव्यों को स्थान देना है। धर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं। स्कंध, देश और प्रदेश। समूची धर्मास्तिकाय स्कंध है। स्कंध समूचे से स्वल्पेण भी न्यून नहीं होता। दो प्रदेश से आरम्भ कर एक प्रदेश कम तक स्कंध नहीं होता। वहाँ तक देश और प्रदेश होता है। धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश स्कंध और देश नहीं होता। जघन्य ( कम से कम ) दो प्रदेश बिना देश कभी नहीं होता। धर्मास्तिकाय ताबके और छाया की तरह एक धार पड़ी रहती है। उसके कोई जोड़ सांध नहीं होती। पुद्गलास्तिकाय से जो प्रदेश अलग हो जाता है, उसे जिन भगवान ने परमाणु कहा है। उसी सूक्ष्म परमाणु से धर्मास्तिकाय मापी जाती है। एक परमाणु जितनी धर्मास्तिकाय को स्पष्ट करता है उसे प्रदेश कहा है। इस माप से धर्मास्तिकाय के अक्षयात प्रदेश होते हैं। अधर्मास्तिकाय के अक्षयात और आकाशास्तिकाय के अनन्त प्रदेश भी इसी माप से होते हैं।

“काल जीव के अनन्त द्रव्य होते हैं। वे निरन्तर उत्पन्न होते रहे, हो रहे हैं और होंगे। अतीत काल में काल के अनन्त समय हो चुके। वर्तमान में एक समय है। आगामी काल में अनन्त समय होंगे। काला द्रव्य की नहीं पहचान है।

है, उसे कोई सहारा देकर नहीं तिराता—वह अपने हलकेपन के स्वभाव से ही तैरता है उसी तरह करनी (धमकृत से) हलकगी—हल्का बन कर जीव स्वर्ग को जाता है और कर्म भार से सम्पूर्ण रहित होने पर मोक्ष को ।”

इसी तरह प्रश्न करने पर कि जीव का निस्तार—संसार-समुद्र से पार पहुँचना किस प्रकार हो स्वामीजी ने एक सुन्दर इष्टान्त देते हुए कहा: “पैसे को पानी में डालने से वह डूब जाता है। उसी पैसे को तपा और पीठ कर उसकी कठोरी बना ली जाए और पानी पर छोड़ दी जाय तो वह तैरने लगेगी। इस कठोरी में पैसे को रखने से वह भी कठोरी के साथ तैरता रहेगा। इसी तरह संयम—इन्द्रिय दमन और क्रोधादि के उपसम से तथा तप से आत्मा को कृश कर हल्का बनाओ। कर्म भार के दूर होने से आत्मा स्वयं ओ संसार-समुद्र से पार पहुँचेगी और अपने साथ दूसरों का निस्तार करने में भी सफल होगी ।”

स्वामीजी की बुद्धि कितनी उपजाऊ थी, उनका ज्ञान कितना निर्मल और स्वच्छ था—इसका आभास उपरुण प्रसंग से मिलेगा। एक दुग्म आध्यात्मिक विषय को उन्होंने कितने सरल ढंग से समझा दिया।

### गुरु की परस्व

सभी धर्मों में गुरु को महान् स्थान दिया गया है। “गुरु गोविन्द दोनों खड़े काको लागू पाव। बलिहारी गुरु देव की सो गोविन्द दिया बताय ।” —यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध पद है जो गुरु की महत्ता और पूजास्पदता को साफ-साफ प्रगट करता है। जैन धर्म में गुरु पद का एक निराल्प हो आदर्श है। सद्गुरु की शरण-सेवा का महान् लाभ जैन आगमों में जगह-जगह वर्णित है। स्वामीजी ने गुरु पद के महत्त्व को अनूठे ढंग से सिद्ध किया है। वे कहते हैं: “देव, गुरु और धर्म ये तीन परमपद हैं। सच्चे देव में देव बुद्धि, सच्चे गुरु में गुरु बुद्धि, और सच्चे धर्म में धर्म बुद्धि—यही सम्यक्त्व अर्थात् सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन—वस्तु तत्त्व में यथा दृष्टि का होना मोक्ष का एक मार्ग है। तीन पदों में गुरु का

है, उसे कोई सहारा देकर नहीं तिरता—वह अपने हलकेपन के स्वभाव से हो तैरता है उसी तरह करनी (धमकृत से) हलुकनी—हल्का बन कर जीव स्वर्ग को जाता है और कर्म भार से सम्पूर्ण रहित होने पर मोक्ष को ।”

इसी तरह प्रश्न करने पर कि जीव का निस्तार—संसार-समुद्र से पार पहुँचना किस प्रकार हो, स्वामीजी ने एक सुन्दर दृष्टान्त देते हुए कहा: “पैसे को पानी में डालने से वह डूब जाता है। उसी पैसे को तपा और पीट कर उसकी कठोरी बना ली जाए और पानी पर छोड़ दी जाय तो वह तैरने लगेगी। इस कठोरी में पैसे को रखने से वह भी कठोरी के साथ तैरता रहेगा। इसी तरह सयम—इन्द्रिय दमन और क्रोधादि के उपसम से तथा तप से आत्मा को कृश कर हल्का बनाओ। कर्म भार के बुर होने से आत्मा स्वयं भी संसार-समुद्र से पार पहुँचेगी और अपने साथ बूझों का निस्तार करने में भी सफल होगी।”

स्वामीजी की बुद्धि कितनी उपजाऊ थी, उनका ज्ञान कितना निर्मल और स्वच्छ था—इसका आभास उपरुक्त प्रसंग से मिलेगा। एक दुगम भाष्यात्मिक विषय को उन्होंने कितने सरल ढंग से समझा दिया।

### गुरु की पररत

सभी धर्मों में गुरु को महान् स्थान दिया गया है। “गुरु गोविन्द दोना खदे काको लागू पाव। बलिहारी गुरु देव को सो गोविन्द दिया बताय।” —यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध पद है जो गुरु की महत्ता और पूजास्प्यता को साफ-साफ प्रगट करता है। जैन धर्म में गुरु पद का एक निरालम ही आदर्श है। सद्गुरु की चरण-सेवा का महान् लाभ जैन आगमों में जगह-जगह वर्णित है। स्वामीजी ने गुरु पद के महत्त्व को अमूर्ते ढंग से सिद्ध किया है। वे कहते हैं: “देव, गुरु और धर्म य तीन परमपद हैं। सब देव में देव बुद्धि, सबे गुरु में गुरु बुद्धि, और सबे धर्म में धर्म बुद्धि—यही सम्यक्त्व अर्थात् सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन—वस्तु तत्त्व में यथा दृष्टि का होना मोक्ष का एक मागद है। तीन पदों में गुरु का



पद सब से ऊँचा है क्योंकि सच्चे देव और धर्म की प्राप्ति सच्चे गुरु को पाए बिना अत्यन्त दुर्लभ है। तराजू की डण्डी के तीन छिद्र होते हैं—एक मध्य में और एक-एक दोनों किनारों पर। तक्रड़ी के दोनों पल्ले बीचवाले छिद्र पर ही समतुल रह सकते हैं। बीच वाले छिद्र की स्थिति में जोड़ा भी फर्क होने से—वह ठीक मध्य में न होने से उसका असर दोनों पल्लों पर पड़ता है और काण—अतर पड़ जाती है। यदि बीचवाला छिद्र ठीक स्थान पर—मध्य में होता है तो दोनों पल्ले भी समतुल—समान ऋके रहते हैं। देव, गुरु, और धर्म में गुरु-पद केन्द्र का पद होने से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गुरु निर्ग्रन्थ—निष्किंचन और गुणवान होने से ही सच्चा देव और सच्चा धर्म हाथ लगता है। यदि गुरु ही श्रद्धा-व्रष्ट और हीनाचारी हो तो वह अमली देव और धर्म के स्वरूप में फर्क डाल देता है—स्वरूप बतलाने में अंधेर कर देता है। निर्ग्रन्थ साधु ही सच्चा गुरु होता है और ऐसा गुरु अरिहन्त भगवान को देव और जिन-आज्ञानुसार चलने में ही धर्म बतलाता है।

“हलुए से भरे थाल में भोजन करने से ही भोजन करनेवालों की पक्ति को तृप्ति हो सकती है। खाली ठीकरे को देखकर भूख नहीं बुझ सकती। इसी तरह गुणवान निर्ग्रन्थ गुरु के चरणों की सेवा से ही आत्मा का कार्य सिद्ध हो सकता है। ठीकरे समान हीनाचारी पुरुषों को गुरु बनाकर उनके प्रति भक्तिभाव करने से नहीं। सत्ताईस गुणों से सम्पन्न उत्तम आचारी साधु ही सच्चा गुरु होता है। ऐसे गुरु के सेवन से निर्मल अहिंसा धर्म और निर्दोष देव की प्राप्ति होकर जीव मोक्ष को प्राप्त करता है।”

ग्रामीण लोगों को ‘हलुए के थाल’ और ‘तराजू’ के दृष्टान्त से गुरु की महिमा बतलाने की सूक्ष्म कितनी मौलिक और चमत्कार पूर्ण है—यह पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। तत्त्वों का वैज्ञानिक ढंग से निरूपण कर उनके यथावस्थ स्वरूप को जीवित रूप में खड़ा कर देना—यह एक महान् दार्शनिक की कुशल तूल्का का ही काम हो सकता है। एक साधारण दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता में ऐसी पंती दृष्टि संभव नहीं।

### विधवा कैसे ?

स्वामीजी एक असाधारण तत्त्वज्ञानी थे और साधारण से साधारण कथा वातां  
 स्रप के प्रयोग में भी गूढ़ तत्त्व सिखा देते। वे ज्ञान के एक महान् भण्डार थे। उनकी  
 प्रत्येक बात शिक्षा से भरी होती। ऐसे ज्ञानी सत यथा कदा ही प्रादुर्भूत होते हैं।  
 एक बार की बात है पोपाइ में एक महिन बोली "अमुक ने भीखणजी की भद्रा  
 को—उन्हें गुरु बनाया जिसने वह रांड—विधवा हो गई। यह जानती न थी कि  
 यह भीखणजी से ही बातचीत कर रही है। वह स्वयं विधवा थी। स्वामीजी वाले  
 "तू तो भीखणजी को निंदा भी काफ़ी करती मादम देती है, तेरी अवस्था भी छोटी है,  
 फिर तू बालविधवा कैसे हुई ?" यह तो अपने-अपने किस्मत का खेल है। सचित  
 कम उद्य में आये बिना नहीं रहते। 'कर्मों के फल भोगे बिना छुटकारा नहीं'—  
 इस सत्य को स्मिने अद्भुत ढंग से स्वामीजी ने उद्दयगम करा दिया—यह उपरोक्त  
 प्रसंग से साफ प्रकट है।

### सुख दुःख का कारण

एक बार स्वामीजी से शिष्यो ने प्रश्न किया: महाराज साधुओं के भी असादा—  
 राग होने का क्या कारण है ?" स्वामीजी बोले जो आकाश में पत्थर फेंककर उसकी  
 लोभ में नीचे गिर करता है उसका गिर अवश्य फूटता है। इसी तरह बांधे हुए  
 सचित कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। जब आकाश में पत्थर नहीं फेंके  
 जायें तो गिर फूटने की सम्भावना भी नहीं रहती। इसी तरह साधु बनकर नये कर्मों  
 को राक देने से अविष्य में दुःख भी नहीं होगा।

जब राग-लोभ-मद-मत्त करे जब पुद्गल लगे तब ।

त उद्य भाया दुःख उपजे त भाव कमाया काम ॥

पप उद्य यो दुःख दुर जब काई मत करीज्यो रोप ।

किया किया फल भोगने, पुद्गल नो तु दोष ॥

### लाभ-अलाभ का

विक्रम संवत् १८५९ के वर्ष देवगढ़ (मेवाड़) में १४ साधु और १४ साध्वियाँ कुल अठाईस ठाने थे। उस समय अन्य सम्प्रदाय के तीन साधु आए और स्वामीजी से बोले : “हमको तो यहाँ तीन साधुओं को भी पूरा आहार नहीं मिलता। आप लोगो को कैसे मिलता है ?” स्वामीजी बोले—“जिस द्वारिका नगरी में हजारों साधुओं को अन्न मिलता था वहाँ ढंढण ऋषि कोरे ही रहते थे। यह अन्तराय कर्म का उदय है।” स्वामीजी ने जरा भी अभिमान न करते हुए बड़े दार्शनिक ढंग से भिक्षा न मिलने के वास्तविक कारण को बतला दिया। उनकी बुद्धि वस्तु के तह तक पहुंचती।

स्वामीजी की बुद्धि में एक हंस का सा नीर-क्षीर विवेक था। वे तत्त्व को अतत्त्व से उसी तरह पृथक् कर दिखा देते, जिस तरह हंस क्षीर को नीर से अलग कर लेता है। उनकी बुद्धि एक ऐसा सूक्ष्म काँटा (तराजू) था जो वारीक से वारीक अन्तर को भी स्पष्ट बतला सकता। उनकी अन्तरभेदी बुद्धि तत्त्वों को उसी तरह मथ निकालती जिस तरह मथनी दूध में से मक्खनको निकाल लेती है। उनकी बुद्धि की इस विशेषता के अनेक प्रसंग मिलते हैं। हम कुछ यहाँ देते हैं।

### पुराने काल में देवालय क्यों ?

एकवार स्वामीजी आठवा पधारे। वहाँके उत्तमोजी इराणा स्वामीजी से बोले “आप देवरो—देवालयाँ—मन्दिरों का निषेध करते हैं परन्तु पहले—पुराने जमाने मे बड़े-बड़े लखपति-करोड़पति हो चुके हैं जिन्होंने देवालय कराये।” स्वामीजी बोले : “यदि तुम्हारे पास ५ हजार का धन हो जाय तो देवालय कराओगे या नहीं ?” उसने उत्तर दिया : “अवश्य कराऊँ।” स्वामीजी ने पूछा : “तुममें जीवका कौन-सा भेद पाया जाता है ? तुममें गुणस्थान, योग, उपयोग और लेश्या कौन-कौन से और कितने पाते हैं ?” उत्तमोजी बोला:—“यह

तो मुझे माध्यम नहीं।” स्वामीजी बोले “आगे भी ऐसी ही समझ थी। रुपये होने से ज्ञान नहीं आ जाता।” “ज्ञान ज्ञानार्थीय कर्मके क्षयोपशम से होता है और अथ लाभान्तराय कर्म के दूर होने से”—स्वामीजी ने यह भेद मतलब कर गतानुगतिक रूप से आती हुई मूर्खता को अपने आप समझने का मौका दिया।

### कूर्मापुत्र के केवली होने का खुलासा

सं १८५४ के चातुर्मास में स्वामीजी खेरवे विराजे। स्वामीजी के साथ ४ साधु और थे। पर्युषण पर्व के दिनों में कई धावक गच्छवासियों के उपाध्यक्ष में व्याख्यान सुनने गए। चापिस आकर स्वामीजी से बोले. “स्वामीजी! अभी हमलोग उपाध्यक्ष में व्याख्यान सुनकर आये हैं कि कूर्मापुत्र ने केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद ६ महीने तक राज्य किया। एक दिन वह राजसभा में बैठा था उस समय वहाँ दो साधु आये। आकर खड़े हो गये पर बदना न की। इस पर कूर्मापुत्र केवली ने उन साधुओं से पूछा: ‘तुमलोगों ने मुझे बदना क्यों न की? मैं केवलज्ञानी हूँ’। तब उन साधुओं ने कहा — ‘भापका भेष गृहस्थ का है इसलिये हमलोगों ने नमस्कार नहीं किया।’ यह सुनकर कूर्मापुत्र बोला—‘ठेरू-ठीक अथ मैं समझा’।” यह कह कर धानकों ने स्वामीजी से पूछा “क्या यह कथा सत्य है? केवलज्ञानी होनेके बाद ६ महीने तक इस प्रकार राज्य करने को बात कैसी-यसी लगती है।” स्वामीजी बोले ‘यह बात विलुप्त मरणान्त है। राज भौहनीय कर्म के उद्वेग से किया जाता है जब कि केवलज्ञान की प्राप्ति माहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय के बाद होती है। जो इस रूपा का मजबूत कहन है, न उनमें सम्यग्त्व है और न जो सुनकर धरल मानते हैं उनमें ही।’

स्वामीजी की तत्त्वबुद्धि न सरपासरय का निर्गम क्षण मात्र में ही कर दिया। कर्मों की प्रकृतियों का रसुम ज्ञान स्वामीजी की रचनाओं में

बड़े सुन्दर ढंग से प्रगट होता है। उनका दिव्य तत्त्वज्ञान क्षणमात्र में ही दृष्टि-उन्मेष कर देता।

### साधु श्रावकके धर्म एक या दो ?

कई लोगों का सिद्धान्त था कि साधुधर्म और गृहस्थधर्म अलग-अलग हैं। स्वामीजी ने उनके एकत्व—पृथक्त्व का विवेचन इस प्रकार किया है : “चौथे, पांचवें, छठे, और तेरहवें गुणस्थान की श्रद्धा समान है परन्तु चारित्र्य का स्पर्श जुदा-जुदा है। जैसे सवित्त पानी में असंख्य जीव और नीलण-फूलण—काँड़े में—अनन्त जीव होने का विश्वास चारों गुणस्थान वालों का समान है और उनमें पाप मानने की बुद्धि समान है इसलिये सबका धर्म भी समान है। चारित्र्य की स्पर्शाना जुदी जुदी होने से चौथे और पांचवें गुणस्थानवाले जीवों की हिंसा करते हैं और वाद के गुणस्थानवाले नह करते, परन्तु इससे उनके धर्म में जुदाई नही आती। यदि चौथे और पांचवें गुणस्थानवाले हिंसा में धर्म समझने लगे तभी उनका धर्म अलग समझना चाहिये क्योंकि ऐसा होते ही वे मिथ्यात्वी की श्रेणी में आ जाते हैं। मिथ्यात्वी और समदृष्टि के धर्म में फर्क हो सकता है, समदृष्टि और समदृष्टिके धर्म में नहीं। उनका धर्म एक ही होता है। केवल देश सम्पूर्ण चारित्र्य का फर्क होता है।” स्वामीजी ने बड़े सुन्दर ढंग से शिक्षा दी है कि जिनधर्मों की श्रद्धा सम्पूर्ण होनी चाहिये। शक्ति के अनुसार चारित्र्य भेद तो स्वाभाविक है।

### ज्ञान क्रिया का जोड़ा

स्वामीजी के समय में कई मतवाद खड़े हो गये थे। कई ज्ञान मात्र को मुक्ति का साधन मानते। कई ज्ञानशून्य क्रिया को। स्वामीजी ने इस विषय पर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। ज्ञान और क्रिया दोनों को एक साथ जहरत होने की बात को उन्होंने बड़ी वारीकी से समझाया है :

‘अधा और पगुला—दोनों एक साथ मिल कर अटवी को पार कर डालते हैं। उनी तरह ज्ञान क्रिया के संयोग ने ही जीव मोक्ष पाता है। क्रिया

तो मुझे माखन नहीं।” स्वामीजी बोले “अग्रे भी ऐसी ही समझ थी। स्वप्ने होने से ज्ञान नहीं आ जाता।” “ज्ञान ज्ञानावर्णीय कर्मके क्षयोपशम से होता है और अथ लाभान्तराथ कर्म के दूर होने से”—स्वामीजी ने यह भेद बतला कर गतानुगतिक रूप से आती हुई मूढ़ता को अपने आप समझने का मौका दिया।

### कूर्मापुत्र के केवली होने का खुलासा

सं १८५४ के चातुर्मास में स्वामीजी खेरवे विराजे। स्वामीजी क साथ ४ साधु और थे। पर्युषण पर्व के दिनों में कई धावक गच्छवासियों के उपाभय में व्याख्यान सुनने गए। वापिस आकर स्वामीजी से बोले “स्वामीजी! अभी हमको उपाभय में व्याख्यान सुनकर आये हैं कि कूर्मापुत्र ने केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद ६ महीने तक राज्य किया। एक दिन वह राजसभा में बैठा था उस समय वहाँ दो साधु आये। आकर बड़े हो गये पर बदना न की। इस पर कूर्मापुत्र केवली ने उन साधुओं से पूछा: ‘तुम लोगों ने मुझे बदना क्यों न की? मैं केवलज्ञानी हूँ। तब उन साधुओं ने कहा — ‘भापका भेष गृहस्थ का है इसलिये हम लोगों ने नमस्कार नहीं किया।’ यह सुनकर कूर्मापुत्र बोला—‘ठीक-ठीक भव में समझ।’ यह कह कर धाकों ने स्वामीजी से पूछा “क्या यह कथा सत्य है? केवलज्ञानी होनेके बाद ६ महीने तक इस प्रकार राज्य करने को बात वैसी-वैसी लगती है।” स्वामीजी बोले ‘यह बात बिलम्बल मनाउन्त है। राज भोहनीय कर्म के उदय से किया जाता है जब कि कवलज्ञान की प्राप्ति माहनेय कर्म क सम्पूर्ण क्षय क बाद होती है। आ इस कथा का सत्य कहते हैं, न उनमें सम्यग्दृष्ट है और न ना सुनकर उल्ल मानते हैं उनमें ही।’

स्वामीजी की सत्त्वमहिती यदि न सत्यासत्य का निर्णय क्षम मात्र में हो कर दिया। कर्मों की प्रकृतियों का सुम ज्ञान स्वामीजी की रचयार्थ में

बड़े सुन्दर ढंग से प्रगट होता है। उनका दिव्य तत्त्वज्ञान क्षणमात्र में ही दृष्टि-उन्मेष कर देता।

### साधु श्रावकके धर्म या दो ?

कई लोगों का सिद्धान्त था कि साधुधर्म और गृहस्थधर्म अलग-अलग हैं। स्वामीजी ने उनके एकत्व—पृथक्त्व का विवेचन इस प्रकार किया है : “चौथे, पाँचवें, छठे, और तेरहवें गुणस्थान की श्रद्धा समान है परन्तु चारित्र्य का स्पर्श जुदा-जुदा है। जैसे सचित्र पानी में असंख्य जीव और नीलण-फूलण—कई में—अनन्त जीव होने का विश्वास चारों गुणस्थान वालों का समान है और उनमें पाप मानने की बुद्धि समान है इसलिये सबका धर्म भी समान है। चारित्र्य की स्पर्शना जुदी जुदी होने से चौथे और पाँचवें गुणस्थानवाले जीवों की हिंसा करते हैं और वाद के गुणस्थानवाले नह करते, परन्तु इससे उनके धर्म में जुदाई नही आती। यदि चौथे और पाँचवें गुणस्थानवाले हिंसा में धर्म समझने लगे तभी उनका धर्म अलग समझना चाहिये क्योंकि ऐसा होते ही वे मिथ्यात्वी की श्रेणी में आ जाते हैं। मिथ्यात्वी और समदृष्टि के धर्म में फर्क हो सकता है, समदृष्टि और समदृष्टिके धर्म में नहीं। उनका धर्म एक ही होता है। केवल देश सम्पूर्ण चारित्र्य का फर्क होता है।” स्वामीजी ने बड़े सुन्दर ढंग से शिक्षा दी है कि जिनधर्मी की श्रद्धा सम्पूर्ण होनी चाहिये। शक्ति के अनुसार चारित्र्य भेद तो स्वाभाविक है।

### ज्ञान क्रिया का जोड़ा

स्वामीजी के समय में कई मतवाद खड़े हो गये थे। कई ज्ञान मात्र को मुक्ति का साधन मानते। कई ज्ञानशून्य क्रिया को। स्वामीजी ने इस विषय पर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। ज्ञान और क्रिया दोनों की एक साथ जट्तरत होने की बात को उन्होंने बड़ी बारीकी से समझाया है :

‘अधा और पगुला—दोनों एक साथ मिल कर अटवी को पार कर डालते हैं। उनी तरह ज्ञान क्रिया क सयोग में हो जोव मोक्ष पाता है। क्रिया

तो मुझे मालूम नहीं।” स्वामीजी बोले “आगे भी ऐसी ही समझ थी। स्वप्ने होने से ज्ञान नहीं आ जाता।” “ज्ञान ज्ञानावणीय कर्मके क्षयोपशम से होता है और अथ लाभान्तराय कर्म के दूर होने से”—स्वामीजी ने यह मेढ़ बतला कर गतासुगतिक रूप से आती हुई मूर्खता को अपने आप समझने का मौका दिया।

### कूर्मापुत्र के केवली होने का खुलासा

सं १८५४ के चातुर्मास में स्वामीजी खेरवे विराजे। स्वामीजी के साथ ४ साधु और थे। पर्युषण पर्व के दिनों में कई धावक गच्छवासियों के उपाश्रय में व्याख्यान सुनने गए। वापिस आकर स्वामीजी से बोले “स्वामीजी! अभी हमलोग उपाश्रय में व्याख्यान सुनकर आये हैं कि कूर्मापुत्र ने केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद ६ महीने तक राज्य किया। एक दिन वह राजसभा में बैठा था उस समय वहाँ दो साधु आये। आकर खड़े हो गये पर बदना न की। इस पर कूर्मापुत्र केवली ने उन साधुओं से पूछा ‘जुमलों ने मुझे बदना क्यों न की? मैं केवलज्ञानी हूँ’। तब उन साधुओं ने कहा— ‘आपका भेष गृहस्थ का है इसलिये हमलोगों ने वमस्कार नहीं किया।’ यह सुनकर कूर्मापुत्र बोला—‘ठीक-ठीक अथ मैं समझ।’ यह कह कर धावकों ने स्वामीजी से पूछा ‘क्या यह कथा सत्य है? केवलज्ञानी होनेके बाद ६ महीने तक इस प्रकार राज्य करने की बात कैसी-कसी लगती है।’ स्वामीजी बोले यह बात विलम्बल भगवन्त है। राज मोहनोय कर्म के उदय से किया जाता है जब कि केवलज्ञान की प्राप्ति मोहनोय कर्म के सम्पूर्ण क्षय के बाद होती है। जो इस कथा का सत्य कहते हैं, न उनमें सम्यक्त्व है और न जा सुनकर सत्य मानते हैं उनमें ही।”

स्वामीजी की तत्त्वभेदिनी बुद्धि ने सत्यासत्य का निर्णय क्षण मात्र में ही कर दिया। कर्मों की प्रकृतियों का सूक्ष्म ज्ञान स्वामीजी की रचनाओं में



बड़े सुन्दर ढंग से प्रगट होता है। उनका दिव्य तत्त्वज्ञान क्षणमात्र में ही दृष्टि-उन्मेष कर देता।

### साधु भ्रातृकके धर्म एक या दो ?

कई लोगों का सिद्धान्त था कि साधुधर्म और गृहस्थधर्म अलग-अलग हैं। स्वामीजी ने उनके एकत्व—पृथक्त्व का विवेचन इस प्रकार किया है : “चौथे, पाँचवें, छठे, और तेरहवें गुणस्थान की श्रद्धा समान है परन्तु चारित्र्य का स्पर्श जुदा-जुदा है। जैसे सचित्त पानी में असंख्य जीव और नीलगा-फूलण—काड़े में—अनन्त जीव होने का विश्वास चारों गुणस्थान वालों का समान है और उनमें पाप मानने की बुद्धि समान है इसलिये सबका धर्म भ्रम समान है। चारित्र्य की स्पर्शना जुदी जुदी होने से चौथे और पाँचवें गुणस्थानवाले जीवों की हिंसा करते हैं और बाद के गुणस्थानवाले नह करते, परन्तु इससे उनके धर्म में जुदाई नहीं आती। यदि चौथे और पाँचवें गुणस्थानवाले हिंसा में धर्म समझने लगे तभी उनका धर्म अलग समझना चाहिये क्योंकि ऐसा होते ही वे मिथ्यात्वी की श्रेणी में आ जाते हैं। मिथ्यात्वी और समदृष्टि के धर्म में फर्क हो सकता है, समदृष्टि और समदृष्टिके धर्म में नहीं। उनका धर्म एक ही होता है। केवल देश सम्पूर्ण चारित्र्य का फर्क होता है।” स्वामीजी ने बड़े सुन्दर ढंग से शिक्षा दी है कि जिनधर्मी की श्रद्धा सम्पूर्ण होनी चाहिये। शक्ति के अनुसार चारित्र्य भेद तो स्वाभाविक है।

### ज्ञान क्रिया का जोड़ा

स्वामीजी के समय में कई मतवाद खड़े हो गये थे। कई ज्ञान मात्र को मुक्ति का साधन मानते। कई ज्ञानशून्य क्रिया को। स्वामीजी ने इस विषय पर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। ज्ञान और क्रिया दोनों की एक साथ जन्मत होने की बात को उन्होंने बड़ी वारीकी से समझाया है :

‘अथ और पगुला—दोनों एक साथ मिल कर अद्वैती को पार कर डालते हैं। उसी तरह ज्ञान क्रिया के संयोग से ही जीव मोक्ष पाता है। क्रिया

ज्ञान नहीं है। वह जानती देखती नहीं। क्रिया तो कम को रोकने तोड़ने रूप—संवर-निर्जरा रूप भाव है। ज्ञान और दर्शन उपयोग हैं। वे बतलाते हैं—किस ओर दृष्टि रखना और किस माग पर चलना। जो क्रिया को उपयोग कहते हैं, उनके मिथ्यात्व का गुरुतर रोग है। इसी तरह जो ज्ञान को क्रिया कहते हैं उनके भी मिथ्यात्व है। ज्ञान और क्रिया भिन्न २ हैं—दोनों को एक मत जानो। दोनों के स्वभाव भिन्न २ हैं। ज्ञान से जीवादि पदार्थ जाने आते हैं। क्रिया से सन्मार्ग पर चला जाता है।

एक आदमी जानता है पर करता नहीं। दूधरा करता है पर जानता नहीं। ये दोनों ही मोक्ष नहीं पा सकते। जो जानता है (कि क्या करना) और (जो करना है वह) करता है वही मोक्ष पाता है।”

‘ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्ष’—का कितना छन्दर स्पष्टीकरण है।

पुण्य बंध कैसे होता है ?

पुण्य शुभ कर्म को कहते हैं। पुण्यके उदय से हर तरह के सासारिक भोगापभोग प्राप्त होते हैं। स्वामीजी ने पुण्य की कामना न करनेका उपदेश देते हुए प्राप्त भोगापभोग के त्याग का मार्मिक उपदेश दिया है। हम यहाँ उसका सार देते हैं — ‘पुण्य के सुख बड़े कष्टे होते हैं। उन्हें विनाश होते देर नहीं आती। उनकी वाञ्छा नहीं करनी चाहिये जिससे कि शीघ्र ही भव-भ्रमण स्पी सुप्त से बेका पार लगे। जो पुण्य की वाञ्छा करता है वह कामभोग की बाँध करता है। कामभोग से संसार की वृद्धि होती है और जन्म-मरण-शोक आदि दुःख उठाते हैं। पुण्य के सुख अधारवत हैं पर वे भी करनी—शुभ कृत्यों के बिना संचित नहीं हाते। पुण्य की वाँछ से पुण्य उत्सन्न नहीं होते। वे तो निरवय योग—निर्बरा की क्रिया से सहज ही आकर लगते हैं। भले छेद्या, भले परिणामों से निश्चय ही निभरा होती है और उस समय पुण्य सहज स्वभाव से लग जाते हैं। जो निरवय की क्रिया करता हुआ पुण्य की कामना करता है वह मनुष्यजन्मको

व्यर्थ खोता है। पुण्य चोस्पशीं कर्म हैं। जो उनको वाञ्छा करते हैं वे मूढ़ हैं और कर्म धर्म को नहीं पहचानते। पुण्य से जो-जो वस्तु मिलती है उसके त्याग से निर्जरा होती है। जो पुण्य को गृह्य होकर भोगना है उसके चिन्ने स्निग्ध कर्म बंध जाते हैं।”

भौतिक-उन्नति के चरम विकास पर पहुँची हुई दुनिया आज भोगों में गृह्य होकर किस तरह अपनी तवाही कर रही है वह सब की आँतों के सामने है। ऐश्वर्य की शोभा त्याग और अनासक्ति है, भोग और लिप्सा नहीं—यदि ज्ञान स्वामीजो ने बड़े गभीर रूप से बतलाई है।

### सकाम अकाम निर्जरा

आत्म-प्रदेशों से कर्मों के आगिक तप से दूर होने को निर्जरा कहते हैं—यदि हम पहले बतला आए हैं। स्वामीजी ने अकाम और सकाम निर्जरा का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है : “निर्जरा दो तरह की होती है। एक अकाम और दूसरा सकाम। तालाब धूप, गर्मी से सूखता है और नल द्वारा उमका जल बाहर निकाल देने से भी। उसी तरह कर्म का क्षय घिस कर अपने आप भी होता है और इच्छा कर करने से भी होता है। भूख, तृषा, शीत, तपादि अनेक कष्ट, कर्मों के उदय से मनुष्य को भोगने पड़ते हैं। इस तरह उदय में आकर कर्मों के घिस कर झड़ जाने से जीव कुछ हल्का होता है। यह अकाम निर्जरा है। वह सहज ही होती है। जीव इसके लिए प्रयास नहीं करता।

जो बिना कामना सहज ही होती है वह अकाम निर्जरा है। कोई इहलोक के सुख के लिए तप करता है, कोई परलोक के लिए तप करता है। इसी तरह कोई यश महिमा के लिये तप करता है और इस तरह भी कर्म कढ़ते हैं पर यह भी अकाम निर्जरा है। जिन-भगवान ने बारह प्रकार के तप बतलाए हैं। जो केवल कर्म काटने की भावना से इन तपों का आवरण करता है उसके आत्म-प्रदेश देशज बज्जल होते जाते हैं। यह सकाम निर्जरा है। कर्म काटने की वांछा से : ।

की जाती है अतः उससे होने वाली निजरा भी सकाम हुई। जैसे साबुन बालक-  
 कर कपड़ों को तपाया जाता है, फिर जल से छांटकर उन्हे पीटा जाता है और फिर  
 शुद्ध पानी से धोने से मैल छंट जाता है उसी तरह तप कर आत्मा को तपा, ज्ञान  
 रूपी जल से छांट कर, ध्यान रूपी बलमें भ्रमकोलने से आत्म-प्रदेशों से कर्म-मैल  
 भ्रक जाता है। ज्ञान रूपी शुद्ध साबुन से तप स्री निर्मल नीर लेकर अंतर-आत्मा  
 रूपी घोबी अपने निज गुण रूपी चीर को धोता है तभी सकाम निजरा होती है।  
 यही निर्जरा की शुद्ध क्रिया है। अमादि काल से सहज हो निजरा हो रही है उस  
 अकाम निजरा से आत्मा का काय सिद्ध नहीं होता। वह निजरा तो हो-हो कर  
 मिट जाती है। जो कम-बन्धन से, इच्छा कर, सद् उपाय द्वारा निवृत्त नहीं होता  
 वह संसार में गोता साता रहता है। जैसे मवाद से भर हुआ फोड़ा उस सम-  
 तक सूखता नहीं जब तक कि नई मवाद की उत्पत्ति को रोक कर पुरानो मवाद  
 निकाल उसे साफ नहीं किया जाता उसी तरह जीव उस समय तक कर्मों से मुक्त नहीं  
 होता जब तक नए कर्मों के आगमन को रोककर चेष्टा पूरक सचित कर्मों को उससे  
 अलग नहीं किया जाता। अपने आप मवाद निबलते रहने पर भी जैसे घाब सूखता  
 नहीं, वैसे ही अकाम निर्जरा होते रहने पर भी जीव कर्म रहित नहीं होता।”

घोबी और भरी निगल—फोड़ के रोजमर्रा अनुभव के दृष्टान्तों को देखर  
 स्वामीजी ने गूड़ विषय को भी कितना सरल बना दिया। सूखी बीज को सरस  
 उसे जनमात्र बना देना—स्वामीजी की वाणी की एक खास विशेषता थी। उनका  
 व्यवहारिक ज्ञान बड़ा बड़ा-बड़ा था। एक महान् वैज्ञानिक की तरह उनकी निरीक्षण  
 शक्ति बड़ी तेज थी। व साधारण जीवन की बातों की लेकर उनके आधार से गूड़  
 तत्वज्ञान को भी जन-मुलभ कर देने की अनुपम क्षमता रखते थे। एसी शक्ति  
 एक सहज ज्ञानी में ही मिल सकती है

नदी उत्तरना यनाम फूल चढ़ाना

स्वामीजी के गूड़ तत्वज्ञान और गहरी आध्यात्म भावना को प्रगट करने वाले

और भी अनेक प्रसंग यहाँ दिये जा सकते हैं पर स्थानाभाव से ऐसा करने में संकोच किया जाता है। केवल थोड़े से प्रसंग ही हम यहाँ और देते हैं।

एक बार एक देवलपंथी स्वामीजी से बोला : “आप जैसे नदी उतरने में धर्म बतलाते हैं वैसे ही फूल चढ़ाने में भी धर्म है”। स्वामीजी बोले “तुम लोगों के सामने तीन तरहके फूल हों—(१) सूखे (२) दो-तीन दिन के मुर्झाये और (३) कच्ची कलियाँ तो इन में से कौन से फूल चढ़ाओगे ?” देवल पंथी बोला “चुन-चुन कर कच्ची कलियाँ चढ़ावेंगे।” स्वामीजी बोले: “तुम लोगोंके परिणाम जीव-हिंसा के रहते हैं और हमलोगों के परिणाम दया पालन के। एक नदी में कमर तक का जल है, एक में घुटने तक का और एक नदी सूखी है। हम लोग इनमेंसे अधिक जल वाली नदी को २-४ कोस की अवलाई (धुराव) खा कर भी टालने (बचाने) की चेष्टा करते हैं और कम-से-कम जल वाली नदी से पार होते हैं। तुम जीवों को देख देख कर बिनते हो। हमलोग देख देख कर टालते हैं। तुम्हारा और हमारा क्रम ही उलटा है। नदी उतरने के साथ फूल चढ़ाने की बातकी समानता नहीं।”

अन्तर भावना के सूक्ष्म सुन्दर विस्लेषण द्वारा कितना सुन्दर नीर-क्षीर विवेक किया है। स्वामीजी के तत्त्वज्ञान की विवेक पूर्ण तूलिका अपनी चित्रकारी में कितनी कुशल थी—यह उसका नमूना है। एक कुशल चित्रकार की तरह वे बारीक से गरीक रेखा को भी दृढ़तनी स्पष्टता से खींच सकते कि वह एक साधारण से साधारण मनुष्य के लिए भी सुबोध होती।

### एक हों जांय

किसी ने स्वामीजी से कहा: “आप और वाईस सम्प्रदाय के साथ एक हो जाइए। स्वामीजी बोले “जिस प्रकार आप महाजन और आडी जात वाले एक नहीं हो सकते—एकता एक कुलमें जन्म लेने से ही होती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व और आचरण ही हमारे कुल हैं। जा इनमें हमसे मिलते हैं वे ही हम में मिल सकते हैं”

एक से सकारों बिना एकता निभ नहीं सकती—इस तत्त्व को स्वामीजी ने एक हृदयग्राही ढंग से समझाया है।

### भावक में आत्मा सात या आठ ?

माधोपुर में गजरमल जी और केसरामजी भावक में चर्चा हुई। भावक-के आत्मा ८ माननी चाहिये या ७ इस विषय को लेकर गहरो तन गई। स्वामीजी ने विषय का खलासा इस प्रकार किया :

“भावक में चारित्र्य आत्मा सम्पूर्ण नहीं पाती इस अपेक्षा से सात और दो चारित्र्य आत्मा पाती है इस अपेक्षा से आठ आत्मा समझनी चाहिये।”

स्वामीजी ने अनकान्त सिद्धान्त से तत्व का सुन्दर निचोड़ कर दिया।

कई भाळे लोग कहा करते—“ये साधु लोग अपने ऋतों में दोष लगात होने परन्तु अपने से तो अच्छे हैं। विचारे कच्चा जल नहीं पीते, खी नहीं रखते। इन गुणों के तो धारक हैं।” स्वामीजी ने इन की चर्चा को मीमांसा करते हुए कहा : ‘कोई एकामन का जूत ले चाहे जितनी रोटियाँ खाले तीभी इससे उसे ऋत-भंग का दोष नहीं लगता परन्तु जो उपवास का प्रत्याख्यान ले आधी रोटी भी खा लेता है, वह ऋत भंगका महा दोषी होता। इसी तरह जिसे पाप के त्याग नहीं होत वह पापी और जो हिंसा, शठ चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन पांच पाप का त्याग कर साधु बनने के बाद अपने ऋतों को निर्मूल कर देता है, वह महा पापी कहलता है। एसा पुण्य कमी पूजनीय नहीं होता।’

स्वामीजी ने हीनाचारों साधु को भ्रष्टी गृहस्थ से अधिक पापी बतलाया है।

### ज्ञान आत्मा में

हिम्मेने कहा ‘पुस्तकों का जमीन पर नहीं रखना चाहिए। उनको पीठ देकर नहीं बैठना चाहिये। पुस्तकें ज्ञान है उनको अशानना नहीं करनी चाहिये।’ स्वामीजी ने कहा ‘यदि पुस्तक का ही ज्ञान समझत हो तो यह एक अनेकौ सुक्त है। यदि पुस्तकें फट जाय ता ज्ञान भी फट जाय। पुस्तकें सब जाय ता ज्ञान भी सब जाय।

यदि हवासे कागज उड़ जाय तो ज्ञान भी उड़ जाय । यदि अग्निसे पुस्तक जल जाय तो ज्ञान भी जल जाय । यदि पुस्तकें कोई चोर ले तो ज्ञान की भी चोरी हो गई । अक्षरों के आकार केवल पहचानने के चिन्ह हैं । पुस्तकों में जो बातें लिखी होती हैं उनको जानना ही ज्ञान है । जानना या ज्ञान आत्म-स्वरूप है । ज्ञान आत्माका चिन्ह है और सदा उसके अन्दर रहता है । पुस्तक पन्ने अजीव हैं और वे ज्ञान से भिन्न हैं । इनका नाश हो सकता है परन्तु ज्ञान का कभी नाश नहीं होता ।”

### साधु कौन ?

एक बार स्वामीजी से प्रश्न किया गया: “साधु किते कहते हैं और असाधु किसे?” स्वामीजी ने उत्तर दिया: “रूपये उधार लेकर जो वादे पर वापिस कर देता है, वह साहूकार कहलाता है और जो रूपये लेकर वादे पर लौटाता नहीं और तकादा करने पर उलटा भगड़ा खड़ाकर देता है, वह दिवालिया कहलाता है । ठीक उसी तरह जो अहिंसा, सत्य, अचोरी, ब्रह्मचर्य और अग्रिग्रह रूपी महाव्रतोंको अंगीकार कर उनका यथोचित पालन करते हुए उन्हें पार उतारता है वह सच्चा साधु है और जो इन ग्रहण किए हुए महाव्रतोंका सही-सही पालन नहीं करता वह असाधु है । आत्मा की साधना—यही साधुत्व है । इस साधनासे पतित न होना ही साधुत्व का चिन्ह है । जो दोष होने पर उसे रक्षीकर नहीं करता और उसका यथोचित दण्ड नहीं लेता परन्तु उलटा दोषोंको छिपाता या उन्हें धर्म सिद्ध करता है वह असाधु है ।”

### शिल्पी नहीं

किसीने स्वामीजी से कहा: “समझदार व्यक्ति तो बहुत हैं परन्तु समझते इतने थोड़े क्यों हैं ?” स्वामीजी बोले: “मकराने के पत्थर में मूर्ति होने का गुण अवश्य है परन्तु इतने शिल्पी नहीं कि सभी मकराने के पत्थरों की मूर्तियाँ हो सकें । इसी प्रकार समझने वाले हलुकरमी जीव बहुत होने पर भी उतने समझाने वाले कहीं हैं जो समझ सकें ।”

### व्रत छोप का लाभालाभ

एक बार स्वामीजी को किसी ने कहा " आप किसी को सौगन्ध त्याग—प्रत्याज्यन करते हैं उनको प्रहय कर जो तोड़ता है—भंग करता है उसका पाप आपको होता है ।" स्वामीजी ने तत्क्षण उदाहरण देकर उसे समझाया "एक साहूकार था । उसने ५०१ में एक बल खरीदा और १००१ में उसे बेच दिया । उसे ५०१ रुपये का फायदा हुआ । इस साहूकार से जिसने बल खरीदा उसने २००१ रुपये में बेच डाला । १००१ का उसे लाभ हुआ । इस लाभ में प्रथम साहूकार का कोई भाग—अंश नहीं हो सकता । अब सोचो कि इस कपड़े को १०१ के लाभ पर न बेच यदि साहूकार उस समूचे को बल डाले । यह नुकसान भी इस दूसरे साहूकार को ही होगा । प्रथम साहूकार इसका भागी नहीं होगा । इसी तरह हम जो समझ कर सौगन्ध—त्याग करते हैं उसका नफ़ा तो भ्रातादि अंगीकार कराते समय ही हमको हो चुकता है । बाद में व्रत निजाने न निभाने की जिम्मेदारी व्रतधारी को होती है और निभाने न निभाने का लाभालाभ भी उसी को होता है । उसके साथ हमारा कोई सरोकार नहीं ।"

### रोग कैसे हटे ?

एक रोगी को एक वैद्य ने कहा ' यह औषधि पी लो, तुम्हारा रोग दूर हो जायगा ।" रोगी बोला "यह औषधि मेरे मुँह में मत डालिए । इसे मेरी पीठ पर चढ़ेल दोत्रिए । यदि औषधि में गुण होगा तो पीठ पर डाल लेने से भी वह फायदा करेगा ।"

जिस तरह पेट में डालने की दवा को पीठ पर डालने से कोई लाभ नहीं होता उसी तरह रूतों के बचनों को मुन कर उन पर अदा लाप विना मिथ्यात्व रोग नहीं मिटता । रूतों को बतार्ह हुई बात को अज्ञापूर्वक मन्यहार में लाने से ही अलना के कष्ट कडत हैं ।

### देने में धर्म पाप

स्वामीजी से एक बार किसी ने प्रश्न किया "किसीने किसी को ग्यारहवाँ



(पौषध) व्रत करने के लिए मकान दिया। इसमें उसको क्या हुआ ?” स्वामीजी ने उत्तर दिया “घर मालिक ने यह जो कहा कि मेरे घर पौषध कीजिए सो उसमें धर्म हुआ।” प्रश्नकर्त्तानि फिर पूछा —“मकान दिया उसमें क्या हुआ ?” स्वामीजी बोले : “मकान क्या समूचा—सदा के लिए दे दिया ? मकान परिग्रह है। परिग्रह सेवनमें धर्म नहीं है और न सेवन कराने में धर्म है। मकान में सामायक प्रतिक्रमण करने दिया उसमें धर्म हुआ।”

### पौषध और

किसीने कहा: “पौषध व्रत में थोड़े वस्त्र रखने वाले को थोड़ा और अधिक वस्त्र रखने वाले को अधिक अव्रत लगता है। यदि ऐसा नहीं तो पड़िलेहन न करने वाले को प्रायश्चित क्यों आता ?” स्वामीजी ने खुलासा करते हुए कहा वस्त्र रखना कोई जरूरी नहीं है। वस्त्र नहीं रखने से पौषध व्रत और अच्छा होता है; लेकिन बिना वस्त्रों के जो परिग्रह—कष्ट होता है वह सहने की शक्ति न होने से वस्त्र रक्खा जाता है और बिना पड़िलेहन किए वस्त्र काम में लाने का त्याग है इसलिए पड़िलेहन करना पड़ता है। यदि वह पड़िलेहन किए बिना ही वस्त्र काममें लाता है तो उसके त्याग का भङ्ग होता है और इसलिए उसे प्रायश्चित आता है। जैसे किसी को बिना छाना पानी पीने का त्याग हो; अब जब वह पानी पीता है तो छान कर पानी पीता है। यदि नहीं छानता तो पानी नहीं पी सकता। पानी पीए बिना रहा नहीं जाता इसलिए पानी छानना पड़ता है। परन्तु वह पानी दया के लिए या त्याग निभाने के लिए नहीं छानता, उसका छानना सिर्फ प्यास बुझानेके लिए ही होता है। इसी तरह वस्त्र रख सकने के लिए ही वह पड़िलेहन करता है। बिना पड़िलेहन के वह वस्त्र रख ही नहीं सकता।

### रक्षा किसकी ?

किसीने कहा: “सामायक करते समय शरीर का परिमार्जन कर खाज करने में धर्म और बिना परिमार्जन कर खाज करने में पाप होता है। स्वामीजी ने उसे समझाने के लिए प्रश्न किया: “कोई चोटो मच्छर आदि डक मारता है तो वह शरीर

के मारता है कि सामायक के ?" उत्तर मिला—“शरीरके ।” स्वामीजीने कहा “पूज कर खाना करना यह सामायक की रक्षा है या अपने शरीर की ?” उत्तर मिला—“शरीर की ।” “यज्ञ सामायक का करना चाहिए या शरीर का ?” जवाब मिला सामायिक का ।” स्वामीजीने कहा ‘सामायक का यज्ञ तब अधिक होगा जब वह किसीके डक मारने पर समभावपूर्वक सहन करेगा । खाना न करनेसे सामायक भंग न हो कर पुष्ट ही होगी । परिमार्जन कर या बिना परिमार्जन खाना करना शरीर का यज्ञ है । उसमें फल नहीं ।”

### गाड़ी और गदहा

किसीने स्वामीजी से प्रश्न किया “कोई साधु रास्ते में थक गया हो और उधर सहज ही में कोई गाड़ी भा गई हो तो उस पर साधु को बिठाकर लया जाय तो यह कार्य बँसा ?” स्वामीजी बोले—“अगर गाड़ीके बदले गदहा हो और उस पर बैठाया जाय तो बँसा ?” प्रश्न कर्ता मुस्करा कर बोला —“आप गदहा का जिक्र क्यों करते हैं ?” स्वामीजीने उत्तर दिया—“साधुके लिये गाड़ी पर चढ़ना उतना ही उपहासास्पद है जितना कि गदहे पर चढ़ना ।”

### स्थानक कैसे ?

जो साधुओंके निमित्त बनाए हुए स्थानकों में रहते हैं और यह कह कर कि हमने कब स्थानक बनानेके लिए कहा या अपने काम को निर्दोष ठहराते हैं, उनके लिए स्वामीजी ने निम्न दृष्टान्त दिया “जवाईं समुद्रल जाता है तब वह कब कहता है कि मेरे लिए हलुभा बनवाइए परन्तु चूकि हलुभा बनाने पर वह खाता है इसलिए समुद्रल वाले हलुभा बनाते हैं । यदि वह हलुभा खाने का त्याग कर दे तो उसके लिए हलुभा नहीं बनाया जायगा । इसी तरह लकड़ा कब कहता है कि मरी सगाईं कीजिए, परन्तु माता-पिताके सगाईं करने पर सुधी-पुशी विवाह कर देता है इसलिए माता-पिता सगाईं और विवाह करते हैं । यदि लकड़ा विवाह न करने की इच्छा पा जाय तो माता पिता उदको सगाईं नहीं करेंगे । उसी तरह साधु काम नहीं करते कि हमारे लिए स्थानक बनाओ परंतु जब यहल्य जोग उनके लिये स्थानक बनाते हैं तो व उनमें रहने लगते हैं । यदि व स्थानक में ठहरान का त्याग कर दें तो भावक भी स्थानक बनाना छोड़ें ।”

## आध्यात्मिक योगी

मिथिला के अधिपति नमि राजर्षिने पुत्र को राज्य सौंप दीक्षा ली । उस समय इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण कर नमि राजर्षि के पास आ बोलने लगा—“हे भगवन् ! अग्नि और वायुके द्वारा ये मन्दिर और आप का अन्तःपुर दग्ध हो रहे हैं । जरा उनकी ओर दृष्टि क्यों नहीं डालते ?” नमि राजर्षि ने जवाब दिया: “मिथिला नगरी में हमारा कुछ नहीं । मिथिला के जलने से हमारा कुछ नहीं जलता । मैं तो छलपूर्वक जाता और बसता हूँ । जिस भिक्षु ने पुत्र कलात्रादि का त्याग कर दिया और जो सर्ग व्यापार से रहित है उसके लिये प्रिय अप्रिय-कुछ भी नहीं । सर्गतः विमुक्त एकान्तानुपश्यी—आत्मलक्षी—मुनि, अनगार, भिक्षु को हमेशा क्षेम कुशल है ।” नमि राजर्षि के इस उत्तर से उनकी आत्म-दशा का पूरा-पूरा पता चलता है । यह एक आत्मज्ञानी की अनूठी आत्मदशा थी, जिसे त्यागी बैरागी ही समझ सकते हैं । स्वामीजी की आत्म-दशा भी ऐसी ही निर्विकार थी । वे एक अनूठे आत्मज्ञानी थे । शुद्ध आत्मदशा को प्राप्त करना—यही स्वामीजी के जीवन को साध थी और इसी कारण से उनकी चित्तवृत्ति सब विकल्पों से परे रह कर उसको साधना में एकान्त निमग्न थी । जब हम स्वामीजी को इसी तरह के एकान्त-अनुपश्यी—आत्मलक्षी के रूप में देखने की चेष्टा करते हैं तभी हमें उनकी सच्ची तह लग पाती है । स्वामीजी अपनी आत्मा में ही बसते और जीते थे । आत्म-वास ही उनके लिये सब से बड़ा कुशल और क्षेम था । नाह्य सांसारिक विकल्पों में वे मुरम्बते नहीं थे । स्वामीजी कहा करते: “समभाव राखौ ते सुज्ञानी” —जो आत्मा को तौल कर रखता है, रागद्वेष के बश समभाव को—चित्त-समाधि

को नहीं छोटा, बहो सच्चा ज्ञानी है।" स्वामीजी जीवन के प्रतिफल इस समभाव की रक्षा करते थे। उनको अ नर-भावना धर्म-ध्यान से अंत प्रोत रहती और हर समय वे आत्मा के एकान्त हित की बात को सामने रख कर ही कदम उठाते। वे एक आध्यात्मिक योगी थे। आत्म-साधना उनके जीवन का महा योग था। उनके विचारों और दृष्टान्तों में आध्यात्मिकता कूट-कूट कर भरी हुई है। हम उनके कुछ विचार यहाँ उपस्थित करते हैं जिससे कि पाठकों को उनके जीवन की इस विशेषता का अंदाजा हो सके।

### मृत्यु और मोह

रोग, वियोग, मृत्यु आदि कष्ट पढ़ने पर सचारी लोग रोना-पीटना करने लगते हैं। स्वामीजी ने एक बार कहा था "ऐसे अवसरों पर रोना-पीटना नहीं चाहिए। अपनी आत्मा को मग्नबूत बना लेना चाहिए। धैर्य और समभाव से सहन करना चाहिए। सिर पर कज्र होने से उतारने की इच्छा व समर्थ न होने पर भी जैसे पाने वाला जबरदस्ती अपने कपड़े अदा कर लेता है, उसी तरह संचित कम उदम में आकर फल दिए बिना नहीं रह सकते। जब महाजन कर्म भरा करता है तो मूख होने लगता है पर चतुर विचार करता है 'सो चलो अच्छा ही हुआ। कुछ बोझा तो हल्का हुआ। कपड़े तो अंत-पत देने ही पड़ते। आज हो बरक गए तो ठण्डा नहीं रहा'। इसी तरह से कष्ट के समय सोचना चाहिए— यह कम-कम चुक रहा है। आज नहीं तो कल संचित कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता। अच्छा हुआ जो आज ही उदम में आ गए। कुछ तो आत्मा हल्की हुई।"

स्वामीजी के उपरोक्त उपदेश में उनकी आध्यात्मिकता फूट पड़ती है। शोक विह्वल मनुष्य के लिए कितना सुन्दर उपदेश उपरोक्त अवसर में है।

इसी तरह स्वामीजी ने एक बार कहा था 'एक मनुष्य विवाह के कुछ दिनों बाद ही माल्यावस्था में चल बसा। यह सुन कर लोगों में हाहाकार मच गया शोक करने लगे वेचारी बारह वर्ष की लड़की का क्या हवाल होगा। उसके दिन कैसे बटेंगे। गजब हो गया। इस तरह विचार कर लोग सोचते हैं मानों व दया

कर रहे हैं। परन्तु वास्तव में वे उसके भोग—ऐशोआराम की ही चिन्ता करते हैं। सभी लोग यही सोचते हैं कि यदि लड़का जीता रहता तो २।४ लड़के लड़की होते। लड़की को सुख मि ।। परन्तु क्या यह भी कोई सोचता है कि इन भोगों के सेवन से लड़की का क्या हवाल होता ? न कोई यही सोचता है कि मृत लड़के की सेवन से क्या गति हुई होगी। संसारी लोगों की सत्य की ओर दृष्टि जानी मुद्रिकल है। ज्ञानोपुरुष जन्म-मरण का हर्ष शोक नहीं करते। वे केवल परभव की चिन्ता करते हैं।”

स्वामीजी ने कितना सुन्दर विवेक दिया है। हम मौत देख कर स्वयं विह्वल हो जाते हैं और विधवा को भी उसकी याद दिला-दिला कर उसके जीवन को दुर्वह कर देते हैं। जीवन को धर्मध्यान में लगा देने से यह वियोग-व्यथा कितनी शांत हो सकती है और जीवन-वहन कितनी सरल—यह स्वामीजी के उपरोक्त अवतरण से चाहिए।

### पाँच महाव्रत और उनकी संगति

स्वामीजी कहा करते थे कि हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँचों पापों के युगपत् त्याग से ही कोई जैन साधु बन सकता है। ऐसा त्याग भी सर्वथा और यावज्जीवक होना चाहिए। जो एक या अधिक पापों का त्याग करता है परन्तु सब का एक साथ नहीं, अथवा त्याग तो सब का करता है परन्तु सम्पूर्ण रूप से—तीन करण तीन योग से नहीं—वह गृहान्तारी है—साधु नहीं। सर्व पापों से एक साथ सम्पूर्ण विरति को ही महाव्रत कहते हैं।

गौरीजी ने अपने इस सिद्धान्त को गुरु-शिष्य के सवाद रूप में बहुत सुन्दर ढंग से समझाया है :

गुरु : “हिंसा, चोरी, झूठ, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन ढुष्कर्मों के आचारण से जीव कर्मों को उपाज न कर चार गति रूप संसार में भ्रमण करता है।

अहिंसा, अमिथ्या, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों महाव्रतों का निर-

विचार पालन करने वाला अनगार नये बर्षों का उपासन न करता हुआ पुराने कर्मों का धन करता है और इस प्रकार अपनी आत्मा को निर्मल कर मोक्ष प्राप्त करता है।”

शिष्य “मैं पहले महाप्रत ग्रहण करता हूँ—मैं ६ प्रकार के जीवों को हिंसा नहीं करूँगा परन्तु मेरी जवान इतनी बच नहीं कि मैं छूट छोड़ सकूँ। अतः स्वामीजी ! छूट बोलने की मुझे छूट है।”

गुरु “भगवान् क बन्धन हुए पाँच महाप्रत इस तरह ग्रहण नहीं किए जाते। जब तुम मूठ बोलने के स्थान नहीं करते तब यह विश्वास कैसे हो कि तुम हिंसा में घन नहीं ठहराओगे। मूठ बोलनेवाला यह कहते सकोच कैसे करेगा कि देव गुरु और घन के लिये श्रापियों की हिंसा करने में बुराई नहीं और आरमादि कर देव्यदि बनाने से जीव भली गर्ति का प्राप्त करता है। मिथ्या मायम द्वारा कोई इस सिद्धान्त का प्रचार करने का जाय कि हिंसा में भी घन है तो महाप्रत की तो बात दूर रही सम्पत्ति और चली जान।”

शिष्य “स्वामि ! मैं हिंसा और छूट दोनों का त्याग करूँगा परन्तु चोरी नहीं छोड़ सकता। घन से मुझे अत्यन्त मोह है।”

गुरु “यदि तू जीव हिंसा नहीं करेगा और छूट नहीं बोलेगा तो तेरी चोरी कैसे निमेयो ? यदि तू चोरी कर सत्य बोलेगा तो खोप तुम्हें चोरी बच करने दोगे ? वे तो तुम्हें सुह पर ही फटकार बतायेंगे। परस्पर को चोरी करने से मालिक दुःख पाता है। किसी को दुःख देना हिंसा है। यदि तू कहेगा कि इसमें हिंसा नहीं तो पहले दोनों ही महाप्रत बन्धनदूर हो जानें।”

शिष्य “मैं तीनों महाप्रतों को महाप्रत स्वीकार करता—मुक्त ? ३५ ग्रहण करता हूँ। परन्तु चौथा ग्रहण से मेरी आत्मा बच नहीं। मैं अज्ञान पूर्वक कैसे।”

गुरु : “चौथे आश्रव—अन्नद्वय के सेवन से पहले तीनों महाव्रत भंग हो जाते हैं। अन्नद्वय सब गुणों को एक पलक मात्र में ही उस तरह छार कर देता है जिस तरह पीनी हुई रुई को आग। मैथुन से पंचंद्रिय जीवों की हिंसा होती है। हिंसा नहीं होती ऐसा कहने से झूठ का दोष लगता है। अन्नद्वय सेवन में जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा नहीं। मैथुन सेवन से भगवान की आज्ञा का भंग होता है—उसकी चोरी लगती है। इस तरह तीनों ही महाव्रत खण्डित हो जाते हैं।”

शिष्य : “मैं चारों ही महाव्रतों को ग्रहण करता हूँ; परन्तु पाँचवाँ महाव्रत कैसे ग्रहण करूँ? ममता छोड़ना मेरे लिए कठिन है। मैं नव ही प्रकार का परिग्रह रखूँगा।”

गुरु : “क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य, द्विपद-चौपद हिरण्य-सुवर्ण और कुम्भी-घातु—ये परिग्रह—हिंसा, झूठ चोरी और अन्नद्वय—इन चारों आश्रवों के मूल—आधार हैं। तू परिग्रह की छूट रख कर अन्य व्रतों का किस तरह पालन करेगा?” ऐसा कहना तो तुम्हारी निरी भूल है।”

शिष्य : “खैर मैं पाँचों ही आश्रवों का त्याग करूँगा परन्तु केवल एक करण तीन योग से। मेरे स्नेही संगी बहुत हैं, अतः मैं कराने और अनुमोदन करने की छूट रखता हूँ।”

गुरु : “घर में थे तब तो तुम्हारी कोई गिनती ही नहीं करता था और खाने के लिये तुम्हें अनाज तक नहीं मिलता था और अब भगवान के साधुओं का वेप ग्रहण करने की इच्छा कर राज्य करने चले हो। तूने त्याग कर केवल अपना घर त्यागा है—उसमें हो कर कितना धन-धान्य होगा? अब तो तू लोक में हुक्म चलाने की मन्दा करता है—इस हिसाब से तू एक महा राजा से कम कहाँ है?”

शिष्य : “मैं पाँचों ही आश्रवों का २ करण ३ योग से त्याग करता हूँ। अब

केवल अलुमोदन की छूट बाकी रहती है। अब मेरे 'वैराग्य में कोई कमी नहीं।"

पुनः "अलुमोदन की छूट रख लेने से तू भयुक्त आहार बहरेगा—सहस्य के साथ तुम्हारा समोग बना रहेगा—और इससे तुम्हारे पाँचों ही महाव्रतों में निगाह हो जायगा। पाँचों ही आभवाँ में हर्ष भाव रहने से उनके प्रति तुम्हारा भावभाव नहीं छूटेगा। इस तरह मन, वचन, काया—इन तीनों ही योग के विषयों में तुम्हारा आर्त—रौद्र ध्यान रहेगा।

पाँचों ही आभवाँ का तीन करण तीन योग से परिहार किए बिना कोई अणगार नहीं बन सकता। धम और शुक्ल ध्यान के ध्यान से ही अणगार होता है।"

यह सुन कर शिष्य ने पाँचों महाव्रत युगपत् रूप से और तीन करण तीन-योग से यावज्जीव्य के लिये ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया।

गीता में कहा है :

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥

इसका अर्थ है ' जो सम्पूर्ण प्राणियों के लिए रात्रि है उस विलेय शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द में संयमी पुरुष जागता है और जिस नाशशील कणमञ्जुर सांसारिक सुख में समस्त भूतप्राणी जागते हैं वह तत्त्ववेत्ता मुनि के लिए रात्रि है।"

गीता का यह श्लोक स्वामीजी की चित्तवृत्ति पर सम्पूर्ण रूप से लागू पड़ता है। दुनिया जन्म मृत्यु में हर्ष-शोक मनाती है। स्वामीजी आत्मा को अमर समझ मम रहने का उपदेश करते हैं। 'स्वामी कागी मुक्ति सूँ ताकी'—वे कहते हैं ज्ञानी की धुन मोक्ष में लगी होती है।

'रह्या धर्म शुद्ध ध्यान ध्याई'—वे धम शुद्ध ध्यान में रत रहते हैं। दुनिया हिंसा, मूठ, खोरी अन्नद्वन्द्व और परिग्रह बिना अपना गुजर नहीं देखती। स्वामीजी ने इनके सबया और युगपत् त्याग की आवश्यकता बतलायी है। अन्तरिक सुसुखभाव और भाष्यात्मिकता बिना—यह सत्य दृष्टि समभव नहीं।



## महान् कवि

हम पूर्व में एक जगह कह आए हैं कि स्वामीजी ने मारवाड़ी भाषा में अनेक महत्वपूर्ण कृतियाँ छोड़ी हैं, जो जैन साहित्य की अमर कृतियाँ कही जा सकती हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ ढालों—सगीतपूर्ण कविता में हैं। गद्य में भी उन्होंने जो थोड़ा लिखा है, वह कई दृष्टियोंसे बड़ा महत्वपूर्ण है। स्वामीजी में कवित्व शक्ति एक सहज संस्कार था। उनके शब्दों में मिठास और अपूर्ण भाव-अभिव्यक्ति है। भावों में मौलिकता और चमत्कार ठसाठस भरे हैं। उनके शब्द नपे-तुले और रचनाएँ चुस्त हैं। उनमें शब्द परिवर्तन की गुंजाइस नहीं। मारवाड़ी भाषाके मुहावरे जगह-जगह दृष्टिगोचर होते हैं। स्वामीजी में हेतु ( कथा, दृष्टान्त ) देने की शक्ति बड़ी विचक्षण थी। उनकी रचनाएँ मौलिक दृष्टान्तोंसे भरी पड़ी हैं। स्वामीजी एक लोक-कवि थे और उंचे दर्जेके सगीतज्ञ भी। वे गायक कवि थे। उनकी रचनाएँ मारवाड़ी भाषा की classical लोक-प्रचलित रागिनियों में हैं। आप उन्हें पढ़ने जाइए और वे याद होती जाती हैं। कवि की भावुकता और ऊंचे दर्जे की दार्शनिकता आप को जगह-जगह आनन्द विभोर कर देगी। स्वामीजी की कविताओं के पीछे गहरी अगम-दृष्टि और जीवन-व्यापी अनुभव मिलेगा। जैन धर्मके प्रति अगाध श्रद्धा और उसके उद्धारके लिए उनके हृदय में रही हुई गहरी तमन्ना जगह-जगह दृष्टिगोचर होती है।

स्वामीजी एक महान् आध्यात्मिक कवि थे। उनकी कवित्व-प्रतिभा बड़ी अद्भुत थी। कविता बनानेके लिए उन्हें परिश्रम करने की जरूरत नहीं पड़ती। हिमालय की चट्टानोंसे जैसे कलकल करती हुई गंगा बहती है, वैसे ही उनके मुखसे कविता सहज भंकार और द्रुतगतिके साथ प्रवाहित होती। वे बात की बात में कविता

बना डालते। जैसे हम भाषा में बोलते हैं वैसे ही वे सहज स्वभावसे कविता में बोल सकते। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जो उनकी शीघ्र कवित्व शक्ति का प्रदर्शन कराते हैं। हम दो एक उदाहरण यहाँ देते हैं।

एक बार आगरिया गाँव में प्रतापजी कोठरी में आश्रय कर पूछा “आप इतनी जोड़ (पद्य-रचना) कैसे करते हैं ?” स्वामीजीके समीप एक छोटी-सी टोकरी रखी हुई थी, जिसके ऊपर का कपड़ा उड़ गया। स्वामीजी ने पद बनाया

“नान्ही-सी या टोकरी  
इणरे माँय पड़यो सपेतो रे  
यत्न घणा कर राखज्यो  
: नहीँ तर माँय पढेकी रेतो रे”

पद कह कर स्वामीजी बोले “हम इसी प्रकार जोड़ें—रचना करते हैं।” स्वामीजी ने क्षण मात्र में कितना उपदेशपूर्ण पद बना दिया।

एक और भी ऐसी ही घटना है जिससे स्वामीजी की आशु कवित्व शक्ति का परिचय मिलेगा। सिरियारी में मुस्सदी निजयसिद्दीजी ने स्वामीजी के दर्शन किए। सप्ताह आदि अनादिके सम्बन्ध में प्रश्न करने पर स्वामीजी ने “भोर-भण्डा, एरण हथौड़ा घाप-बेठा आदि के दृष्टान्त से बहुत ही सुन्दर दृश्यसे उन्हें समझाया। उत्तर सुन मुस्सदीजी बोले “आपकी बुद्धि बहुत देशों को परीटे (उम पर राज्य करे) ऐसी है।” स्वामीजी ने निम्न लिखित पद जोड़ कर वापिस जवाब दिया-

“बुद्धि वाही सराहिए  
जो सेवे जिन-धम  
वा बुद्धि किण कामरी  
जो पड़िया बाधे कर्म”

“उस राजबुद्धि से क्या प्रयोजन जिससे सिर्फ कमौ का ही बन्ध होता है । वही बुद्धि सराहनीय है, जिससे जिन-धर्म सेवित है ।” जैन-धर्मके प्रति अगाध प्रेम और कविता की प्रज्ञा—स्वामीजी की इन दोनों विशेषताओं के दर्शन इस अमर पद में एक ही साथ होते हैं । स्वामीजी की बुद्धि की तीक्ष्णता और अद्भुत मति और श्रुतज्ञान के तो सभी थे ।

स्वामीजीने छोटी-छोटी कृतियोंके साथ-साथ बड़ी-बड़ी कृतियाँ भी दी हैं और सब में उनकी कवित्व शक्ति समान ओज है । संगीत पूर्ण ढालों के दोहे और सोरठे चमत्कार सा पैदा करते हैं ।

एक द्वन्द्व है । इसमें बड़ी विचित्रता है । ऊपर है और नीचे पाताल । एक और गगन भेदी पर्वत हैं और दूसरी ओर पाताल भेदी समुद्र । ऐसी विरोधी विचित्रता मनुष्य के जीवन में भी है । इस विचित्रता और उसके कारण का ही गंभीर और तन्मय वर्णन स्वामीजी ने चन्द सोरठों में किया है । हम इन सोरठों को यहाँ देते हैं :

एक नर पंडित प्रवीण रे, एक ने आखर ना चढ़ै  
 एक नर मूर्ख दीन रे, भाग बिना भटकत फिरे  
 एकण रे भरिया भंडार रे, सम्पत घर में घणी  
 एकण रे नहीं लिंगार रे, दीघा सोइ पाइए  
 एकण रे आभूषण अनेक रे, गहणा विविध प्रकार ना  
 एकण रे नहीं एक रे, वस्त्र बिना नागो फिरे  
 एक नर जीमै कूर रे, सीरो पूरी लपसी  
 एकण रे नहीं वूर रे, भीख मांगत भटकत फिरे  
 एक नर पोढै खाट रे, सेज जिछाई ऊपरै  
 एक नर डूढै हाट रे, आदर मान किहा नहीं

एक नर हय भसवार रे, चढै हस्ती ने पाखली

एकण रे सिर भार रे, गांव गाव भटकत फिरै

एकण रे रदै हजूर रे, हाथ जोड़ हाथर रहै

एक नर नै कौं दूर रे, निजर मैलै नहीं तेहसू

एक नर सुन्दर रूप रे गमतो लागै सकल ने

एकज कालो कुल्य रे गमतो न कानी केहने

एक कालक विधवा नार रे रात दिवस छुरै घणी

एक सम्त सोलै शिणगार रे क्त २ ना फल भोग

एक नर छत्र धरय रे, आण मनावै देश में "

एक नर भलाणै पाय रे, फिरै घर घर टुकका मांगतो

एक बैस सिधासण पाट रे हुकम चलावै लोक में

एक फिरेज हाठो हाट रे, एक कोठी रे करयै

एक नर निरमल वैद रे, एक ने रोग पीका घणी

किसो कीजै भइमेव रे, किया सोई पाएए

एक सारै निज काज रे, सखम मारग आदरै

एकज बिलपै राज रे, काज बिगाडै आपणो

एक रमै नर नार रे, मद मांस तणों भक्षण करै

त्यारै ह्या न दिसें किगार रे, ते सुख पावै किण बिधै

एक नर पालै धीस रे, साध तणी सेवा करै

पामै अविचल लील रे, मीस तणा सुख सासता

निरफल लँखज होय रे निरफल होय ज्यावै असतरो

सुणज्यो अवियण होय रे, करणी कदै निरफल नहीं

“मनुष्य करता है वैसा ही पाता है । रुख—वृक्ष निरफल हो सकता है, ली निरफल हो सकती है, पर हे भविजन । करणी—धर्म-किया कभी निरफल नहीं हो सकती ।”

कवि ने एक निश्चल सत्य को कितने सुन्दर ढंग से बोणावद्ध कर दिया है। वृक्ष और खो का निष्फल होना देखा जाता है पर करणी कभी निष्फल नहीं जाती— यही कारण है कि जगत् में इतनी विचित्रता है। प्रत्येक सोरठे में एक ओर हृद दर्जे की भाग्यशीलता और दूसरी ओर हृद दर्जे की भाग्यहीनता के उदाहरण फौज के मार्च ( March ) के समय समानान्तर से ऊपर उठते और नीचे गिरते दायें बाए पैर की हलचल का दृश्य उपस्थित कर देते हैं। कवि की प्रोढ़ कल्पनाशक्ति सुन्दर शब्दों के अलंकारों से विभूषित हो, एक अनूठे वैभव के साथ चृत्य करती है। कवि एक अनोखी भाव तन्मयता में कहता है : “ससार में हि की विचित्रता प्रगट देखी जाती है फिर कार्य की विचित्रता क्यों नहीं होगी ? एक संयम-मार्ग को ग्रहण करता और दूसरा राज-खुशियों में चिलास करता है; फिर क्यों नहीं एक अपना कार्य सिद्ध करेगा और दूसरा अपना कार्य बिगाड़ेगा ? एक मनुष्य नारियों में लीला करता है और मद मांस का भक्षण कर निर्दयता का परिचय देता है। दूसरा मनुष्य शील—ब्रह्मचर्य का पालन करता है और साधुओं की सेवा करता है। फिर पहले पुरुष को क्यों सुख होगा और क्यों नहीं दूसरा मनुष्य मोक्ष के शाश्वत सुखोंमें अविचल लीला करेगा ?” किन्तु सुन्दर दलील है। सत्कर्मोंके लिए एक सजीव प्रेरणा नदी की धारा की तरह हृदय प्रांगण में दौड़ने लगती है। सरल भाषा में गभीर ज्ञान यह लोक कवि का लक्षण है। स्वामीजी खरे अर्थ में एक ज्ञानी कवि थे। वे एक ओजस्वी सुधारवादी लोक कवि थे।

सोरठों की तरह स्वामीजी के दोहे भी बड़े ही सरस और उपदेश पूर्ण हैं। ‘शील की नववाङ्’—ब्रह्मचर्य विषय का एक सुन्दर काव्य है। कवि की काव्य-कौमुदी इस रचना में अपनी सम्पूर्ण छटा के साथ प्रसारित हुई है। रचना में सर्वत्र एक समान भावप्रवणता और सौष्ठव नजर आता है। इस रचना के दोहों को कण्ठस्थ कर उनका पाठ करते रहने से ब्रह्मचर्य पालन में सिद्ध-कवच का सा सहारा

मिलता है। इस रचना को हम ब्रह्मचर्य का सिद्धि-यंत्र कह सकते हैं। स्वामिभाष्य से हम यहाँ केवल दोहों का ही संग्रह देखते हैं।

द्विजे कहुँ छुँ छुँ छुँ छुँ, शील तणी नव बाह  
 दधमो कोट तो चिह्न दिशा, माहि ब्रह्मचर्य विस्तार  
 अंत गाँव ने गौरवें, न रहे न कीथा बाह  
 रहती तो सेत इण विधे, दोली कीर्धा बाह  
 ब्रह्मचारी विचरे अटे, अम अम छे -  
 तिम कारण इण शील री, बोर कही सब क  
 बाह न छोपे देहलो, रहे मत्त अ-  
 ब्यरागी विरक्त यया, दिन २ चढ़ते रज  
 पहली बाह में हम कह्यो, नारि रहे तिहाँ रात  
 तिण अमे रहणी नही, रह्या मत्त तणी हुवे भात  
 अथवा नारी पकळी, भळो व संव तास  
 धमक्या कहनो मही, बैसी तिण रे पास  
 तिण यी अकण्ण अमजै, शंका पामे हाक  
 भावे म्म सिर, मळे होवे व्रत नो फोक  
 क्य - कहनी नार नी, ते जिन कही वृत्ती बाह  
 नारी कया कहे देहसु, मत्त रो हुवे विगाह  
 से शील रह्या मद्द व्रत में, तिणरे विवै नही मन माहि  
 ते ब्रह्मचारी ने नारी कया, करबो छोमे नाहि  
 टीली बाह में हम कह्यो, ब्रह्मचारी नारी छहीत  
 पकण्ण तिण्या मही बैसणी, या जिन नारगरी रेत  
 अमन कुँड पासै रहे तो पिघळै वृत्तनो कुम्भ  
 न्यु नारी सजल पुक्क गो, रहे किसी पर मद्द

ब्रह्मचारी योगी दती, मत कर नारि  
 एकण सिज्या ' ; , होवे व्रतनो भङ्ग  
 पावक गाले लोह ने, जो रहे पावक सङ्ग  
 ज्युं एकण सिज्या बैसतां, न रहे व्रत रङ्ग  
 नारी रूप नहीं निरखणो, या जिन कही चौथी बाङ्ग  
 मने जे पालसी, त्यां सफल क्रियो अवतार  
 चित्र लिखित जे पूतली, ते पिण जोयवी नाहि  
 केवल ज्ञानी इम कह्यो, दशवैकालिक मांहि  
 भौत परेच टाट आतरे, तिहां रहता हुवे नर नार  
 तिहा ब्रह्मचारी ने रेहवे नहीं, ए जिन कही पांचमी बाङ्ग  
 संजोगी पासे रहे, ब्रह्मचारी दिन रात  
 ते तणा शब्द सांभल्या, हुवे व्रत नी घात  
 छठी बाङ्ग में इम कह्यो, चञ्चल मन मति डिगाय  
 खाधो पीधो विलसियो, ते मती याद अणाय  
 मन गमता भोग भोगव्या, ते याद किणं गुण नांहि  
 बाङ्ग भांग्या व्रत खै हुवै, बले अजस हुवे लोग मांहि  
 नित २ अति सरस आहार ने, बरज्यो सातमी बाङ्ग  
 ते ब्रह्मचारी नित भोगवे, तो व्रत रो हुवे बिगाङ्ग  
 घृतादिक स्युं पूरण भर्यो, एडवो भारी आहार  
 ते घातु दीपावै अति घणो, तिण स्यू वधे विकार  
 खाटो खारो चरपरो, मीठो भोजन जेह  
 विविधपने रस नीपजै, ते रसना सर्व रस लेह

जेहनी रसना बस नहीं ते खावे सरस आहार  
 अत भोग भागल हुवे, खीचे प्रद्वयत सार  
 आठमी बाढ़ में इम कइयो बाप न करणो आहार  
 प्रमाण लोप अधिको करे तो मन रो हुवे निगाह  
 अति आहार थी दुःख हुवे, गले रूप बल आय  
 प्रमाद विरा आलस हुवे, बले अनेक रोग होय जाय  
 अति आहार थी विषे बचे, पणोइज फाटे पेट  
 घान अमाज छांती, हांटी फूटे नेट  
 नवमी बाढ़ प्रद्वय नी, विभूषा न करणी अङ्क  
 विभूषा कीर्ता थका, पावे अत नो मङ्ग  
 शरीर विभूषा जे करे, से सजोगी होय  
 प्रद्वयारी उन म सोमवे, ते कल्पे नवि कोय  
 नवमी बाढ़ कही प्रद्वय नी, हिव दसमों कइ कोट  
 ते बाढ़ दोळी बीटी रखी तिण में मूल न चाले खोट  
 कोट भांग्यां ओखम है बाढ़ जे, बाढ़ भांग्यां अत ने जाण  
 तिणस्युं कोट डिगण देवे नही ते बाह्यो चतुर सुजान  
 सहर कोट सैंठो हुवे तरे चिता न पामे लोक  
 न्युं भदग कोट प्रद्वय नी, तो चोल म पामे दोक

नव बाढ़ के बाद द-र्वा कोट है—“शब्द रूप गन्ध रस फ स, भल भुण्डा, हल न  
 भाठी, सरस । त्यांनू राग द्वेष करणो नहीं, झोल रहसो एहवा कोट माहि ।”

स्वामीजी कहते हैं “अत गर्ब को सोमा पर होता है तो बाढ़ किए बिना  
 उसको रक्षा नहीं हो सकती । बाढ़ के बाद भी खाई करनी पड़ती है । इसी प्रकार  
 प्रद्वयारी जहाँ निहार करते हैं वहाँ अगद-जगद सिर्या रहती हैं इसलिए प्रद्वयर्ष  
 की रक्षा के लिए बाढ़ रूपी नौ नियम और कोट—खाई—रूप दसवें नियम का



पालन करना जरूरी होता है । चर्य के इन दस समाधि-स्थानों का जो लोप नहीं करता उसका व्रत अखण्डित रहता है और वह दिन-दिन चढते रत्न से वैरागी रहता है । ” ‘ब्रह्मचारो योगी यती, मत कर नारी प्रसंग’—में कितना गंभीर उपदेश समाया हुआ है ! ‘पावक के साथ रहने से जैसे पावक लोहे को गला डालता है, उसी तरह एक शय्या पर बैठने से ‘न रहे व्रत से रङ्ग’—व्रत में दृढ़ता नहीं रहती—कितने सावधान करते हैं ये शब्द ! कठोर से कठोर हृदय के लिए भी एकसाधन पर बैठने में कितना खतरा रहा हुआ है, यह एक सुन्दर उदाहरण से बतल दिया है । जो ‘नारो—रुन नहीं निरखता वह मनुष्य नरजन्म को सफल-साध्यक करता है’—कितने सचोटे वचन हैं ! ‘संयोगी’—शब्द कवि को अनोखी सूत्रन शक्ति का परिचय देता है और साथ ही बड़ा भावोत्पादक है । ‘चबल मन मति डिगाय ।’ ‘खाधो पिरो विलसियो तेमति याद अगाय’—छट्टी वाङ् की यह शब्द योजना कितनी सुन्दर और भावपूर्ण है ! ‘धानु दिगात्रे’—‘सरस आहार धातु को दोस करता है’ । सरस आहार से मोठे और स्निग्ध आहार का ही अर्थ लिया जाता है परन्तु ‘खाटो खारो चरपरो मोठो भोजन जेह । विविधपने रस निपजै ते रसना स्रव रस लेइ’— इस में स्वामीजी ने बतलवाया है कि इन सवें रसों में जिसको ‘रसना बस नहीं’ वह ‘व्रत भाग भागल हुवे खोवे ब्रह्म व्रत सार’— व्रत भाग कर भागल हो जाता है और मूल्यवान् ब्रह्मचर्य व्रत को खो डालता है’ । अति आहार से ‘गलै रूप बल आय’—‘रूप, बल और आयुष्य क्षीण होती है—कितना सुन्दर बना है ! जैसे हाँडो में ‘अमाऊ ऊतां’—शक्ति उपरात अन्न डालने से अन्न उवाल में आने पर हाँडो फूट जाती है उसी तरह अधिक आहार से पेट फटने लगता है और विकार, प्रमाद, रोग, निद्रा, आलस और वषय विकार की वृद्धि हो कर ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है । यह दृष्टान्त कितना मौलिक और रोजमर्रा के जीवन से लिया हुआ होने से कितना सरस और हृदयग्राही है ! भाषा कितनी बहती हुई और शब्द योजना कितनी सुन्दर है !

ब्रह्मचर्य पालन के लिए कवि ने अम्यत्र इस प्रकार भील की है  
 सुप्पा तणो ओही सार रे, शील वाले नर जे सदा  
 पामे भव तणो पार रे, हृण बात में शंका नहीं  
 ऐसो शील निधान रे, भव जीवां हितकर आदरों  
 ते निश्चै जासी निर्वाण रे, देवकोक में सांसो नहीं  
 पट्ट दर्शन रे अह रे, शील अधिको बखानियो  
 तप अप ए सहु जाय रे शील बिना एक पलक में  
 किताएक कीजै बखाण रे, शील मत में गुण घणा  
 जोनो सूत्र पुराण रे, शील साए बरतां सिरै

चन्द शब्दों में शील की महिमा—विशेषता कितने सुन्दर ढंग से दिखायी है :  
 'शील घट्ट दशन की सामान्य वस्तु और सूत्र पुराण का सार है' । 'तप अप ए सहु  
 जाय रे, शील बिना एक पलक में', 'शील सारा मतों सिरै', ऐसो शील निधान रे  
 भव जीवां हित कर आदरों'—आदिकवि की आत्मा को उठेल कर एक गहरो सजीवता  
 उत्पन्न कर देते हैं ।

उपसर्ग—विघ्न विपदा के समय ब्रह्मचारी का क्या कर्तव्य है—इस पर बड़े  
 सुन्दर बोहे स्वामीजी ने दिये हैं :—

मन गमतो परिसो सी तणो, सहणो बणो दुक्कम ।  
 मन हठ परणामां पुरुषां ने, सहणो घणो छल्लम ॥  
 गमतो अणगमतो हुनै, उपसर्ग उपजै आय ।  
 सर पुरुष घामां महे, कायर भागी जाय ॥  
 समदृष्टि विवहा हुनै, वाले मत अभङ्ग ।  
 ज्यू—ज्यू परिषा उपजै तिम तिम चुबटो रज्ज ॥  
 नेरी से कारै पक्का, भाग्ग्यां भलो न होय ।  
 पय रोपी सामो महे, सो गंअ न सकै कोय ॥

जैसो गोलो मेण रो, तप लाग्यां गल जाय  
 कायर पुरुष स्त्री कन्हें, तुरत डिगे छिण मांय  
 जैसो गोलो गारको ज्यू धमे ज्यू लाल  
 ज्यू शूर पुरुष स्त्री कन्हें भडिग रहे व्रत म्हाल

“स्त्री का विघ्न अनुकूल—मनको रुचिकर होता है, अतः उसको सहना—  
 उसका पार पाना अत्यन्त कठिन होता है, परन्तु जो पुरुष दृढ मनवाले—  
 दृढ़ परिणामों वाले होते हैं, उनके लिये तो यह अत्यन्त सरल बात है।

“अनकूल या प्रतिकूल उपसर्ग—सकट आ पड़ने पर शूर पुरुष सम्मुख  
 मड़ जाते—भ्रूम्हने लगते हैं और कायर पीठ दिखा कर भग जाते हैं।

“समदृष्टि जब संकटों से विवश हो जाता है तो व्रतों का अभग रूप से  
 पालन करता है। जैसे जैसे परिपह बढ़ते हैं वैसे-वैसे चढते अनुराग से वह  
 व्रतों की रक्षा करता है।

“वैरी जब पीछे पड़ जाता है—तब पीठ दिखा कर भगने से भला नहीं  
 होता। वैरो के सम्मुख पग रोप कर मड़ जाने से प्राण चले जाने पर भी,  
 कोई गंजता नहीं—हल्की बात नहीं कहता।”

धर्म मार्ग में भो शूरवीरता की कितनी आवश्यकता है—यह स्वामीजी ने  
 उररोक्त पदों में बताया है। ‘प्राण भले ही चले जाय धर्म न जाय’—इस दृढ़  
 भावना का वोजारोपण उपरोक्त पदों में है। स्वामीजी ने कहा है ‘कष्ट  
 पड्या कायम रहै, ते साचेला शूर’—जो कष्ट पड़ने पर कायम रहते हैं वे  
 ही सच्चे शूर हैं। जैसे मोम का गोला ताप लगने से गल जाता है, उसी तरह कायर  
 पुरुष स्त्रीके सम्मुख क्षण मात्रमें डिग जाता है। पर गार का गोला जैसे-जैसे धमाया  
 जाता है, लाल होता जाता है। उसी तरह शूर पुरुष अपने व्रत को निभाता हुआ  
 स्त्री के सम्मुख भडिग रहता है।

‘कालवादी की चौपाई’—स्वामीजी की एक बड़ी ही उत्तम काव्य-रचना है। इसे पढ़ने से ऐसा लगता है, जैसे स्वामीजी कोई ज्ञानके उद्यान थे। ज्ञान की अद्भुत छटा, सुत्रों का अद्भुत दोहन, अद्भुत गंभीर गिरा—शीतल मलय मरुत की शान्ति पहुँचाते हैं। स्वामीजी का ‘तत्त्वज्ञानो’ इस रचना में पूरा-पूरा प्रगट हुआ है। इसके कुछ नमूने देखिए—

किण ही दो जणां चारित साधे लियो  
 समकाले छोड्या प्राण हो। भविकजन  
 काल सरीखो दोन्यारा चारित्र तणो  
 पिण चारित्र गुण में फोर जाण हो ॥ भविकजन  
 चारित्र तो जघन्य मध्यम उरकृष्टो होय हो  
 ते तो चेतन गुण पर्याय हो। भविकजन  
 ते चारितावरणी कर्म दूर हुवां  
 निज गुण प्रगट थाय हो ॥ भविकजन  
 चारितावरणो चारत ने बिगडियो  
 ओ बिगडियो निज गुण जाण हो। भविकजन  
 पर गुण भाडो कर्म भावै नही  
 इगरी पिण करण्यो पिछाण हो ॥ भविकजन

अर्थात्—“दो आदमी एक साथ चारित्र प्रकट करते हैं और एक ही साथ प्राण छोड़ते हैं। इस प्रकार दोनों के चारित्र का काल तो समान होता है, पर चारित्र गुण में फेर हो सकता है। चारित्र यून, मध्यम और उरकृष्ट होता है और वह जीव के चेतन गुण की पर्याय—उसकी अवस्था विशय है। चारित्रावरणी कर्मके दूर होने से अतना २ निज गुण प्रगट होता है—चेतन का अतना-अतना स्फुरण होता है, वही चारित्र है।

“चारित्र्यावरणो कर्म चारित्र्य को बिगाड़ता है; जो बिगाड़ता है—वह आत्मा का भिन्नगुण—उसका चेतन भाव है। कर्म परगुण आत्मा के सिवा अन्य के गुण को नहीं ढकता। इसको अच्छी तरह पहिचानो।”

स्वामीजी के ये पद कितने चमत्कारिक हैं—यह पाठक स्वयं अनुभव करें। “परगुण आडो कर्म आवै नहीं”—यह कितना गूढ़ और अर्थ-गौरव-गंभीर है। यह एक आध्यात्मिक कवि की आत्मा ही अच्छी तरह समझ सकती है।

एक और उद्धरण इसी कृत्ति से हम देते हैं :

निज गुण फिरे ने पर गुण भर पड़े,

ते पर गुण पुद्गल जाण हो। भविकजन

पर गुण भरिया निज गुण हुवै निर्मलो,

आ श्रद्धा घट में आण हो ॥ भविकजन

अशुद्ध निज गुण फिरियां सुध निज गुण हुवै,

ते पर गुण कर दे दूर हो। भविकजन

शुद्ध निज गुण फिरिया अशुद्ध निज गुण हुवे,

तिण सू पर गुण लागे पूर हो ॥ भविकजन

जे मैला निज गुण मोह कर्म वसे,

त्या निज गुणा स्यु पाप वधाय हो। भविकजन

मोह रहित निज गुण हुवै निर्मला,

त्या सू परगुण दूर पलाय हो ॥ भविकजन

सात कर्म सू निज गुण मेला हुवे,

त्या सू पाप न लागे ताम हो। भविकजन

ते करम कर्या हुवे निज गुण निर्मला,

त्यारा गुणा निपन छै नाम हो ॥ भविकजन

आठ कर्म उदय हुआ नीपजै

निज गुण उदय भाव अनेक हो । भविकजन

आठ कर्मों ने क्षय कीर्षा नीपना

निज गुण क्षयक भाव विशेष हो ॥ भविकजन

चार कर्म क्षय उपसम कीर्षा नीपजै

निज गुण क्षय उपसम भाव हो । भविकजन

मोह कर्म उपसमियाँ प्रगटे,

निज गुण उपसम भाव हो ॥ भविकजन

ये च्याक ही भाव परिणामिक जेव छे,

ते खेतन निज गुण पर्याय हो । भविकजन

ए भाव फिरे पिण द्रव्य फिरे नहीं,

ते पिण छुणज्यो न्याय हो । भविकजन

तरब शुद्ध सरख्यां हुवे जीव समकित्ती,

ऊ धा सरख्यां मिथ्याती थाय हो । भविकजन

ओहिज ज्ञानी रो अज्ञानी हुवे

अज्ञानी रो ज्ञानी हो जाय हो ॥ भविकजन

नारकी ने देवता रो मिनख तियच हुवे

मिनख तियचनो देव थाय हो । भविकजन

इत्यादिक जीवरा भाव अनेक छै,

ते और रो और होय जाय हो ॥ भविकजन

सासतो जीव द्रव्य छे अनाद रो,

तिभरी प्रज्या अनाद जाण हो । भविकजन

ते प्रज्या हाण विरध हुये कर्म सु

पिण द्रव्यरी नहीं विरध हाण हो ॥ भविकजन

जे भाव फिरे पिण द्रव्य फिरे नहीं,

त्यां भावारा भेद अनेक हो । भविकजन

ते भाव निश्चै ही जाणो असासता

ते सरधो आण विवेक हो ॥ भविकजन

द्रवे सासतो ने भावे असासतो ।

जीव ने कह्यो जिण राय हो । भविकजन

ते सूत्र भगोती रे सत खध सात में

दूजा उदेशा माहि हो ॥ भविकजन

भावे जीवने कह्यो असासतो

ते तो प्रज्या पलटे जाण हो । भविकजन

द्रवे जीवने सासतो कह्यो

जीवरो अजीव न थाय हो ॥ भविकजन

अर्थात्: “ निज गुण की स्फूर्णा होने से परगुण—आत्म-प्रदेशों से ऋद्धते हैं । ये परगुण और कुछ नहीं पुद्गल कर्म हैं । परगुण के दूर होने से निजगुण निर्मल होते हैं । यह श्रद्धा हमेशा घट में रखो ।

“अशुद्ध निजगुणों के हटने से निजगुण शुद्ध हो जाते हैं और निजगुण पर गुण—पुद्गल को आत्म-प्रदेशों से दूर कर देते हैं । शुद्ध निजगुण के पलटने से निजगुण अशुद्ध हो जाते हैं जिससे परगुण प्रचुर मात्रा में लगते हैं ।

“मोह कर्म के उदय से जो मेले निजगुण हैं उनसे पाप कर्म का वध होता है । मोह रहित अवस्था में निजगुण निर्मल हो जाते हैं, जिससे परगुण पलायमान हो जाते हैं ।

“सात कर्म से निजगुण मेले होते हैं, पर उनसे पाप नहीं लगता । मोह कर्म से पाप लगते हैं । इन सात कर्म के ऋद्धने से निजगुण निर्मल होते हैं । सातों ही कर्मों के नाम उनके गुणों के द्योतक हैं ।

'आठ कर्मों के उदय से अनेक निजगुण रूपी भावों का उदय होता है और इनके क्षय से क्षायक भावों की उत्पत्ति होती है ।

"चार कर्मों के क्षय-उपसम से निजगुण रूपी क्षय उपसम भावों का उदय होता है । मोह कर्म के उपसम से निजगुण रूपी उपसम भाव होता है

"ये चारों ही भाव—उदय उपसम क्षायक, क्षयोपसम—परिणामिक हैं। ये जीव के परिणाम हैं । चैतन्य भाव जीव का निजगुण है और ये बसी की पर्याय हैं । ये भाव जीव फिर आते हैं पर द्रव्य जीव फिरते नहीं । उसका भी न्याय सुनो ।

"तत्त्वों को शुद्ध समझने से जीव सम्यक्त्वही होता है, उल्टा भ्रमने पर वही जीव मिथ्यात्वी हो जाता है । यही जीव ज्ञानी का अज्ञानी हो जाता है और अज्ञानी का ज्ञानी ।

"भारकी और देवता का जीव मनुष्य और तियष हो जाता है और मनुष्य तियष का जीव देव हो जाता है । ऐसे ही जीव के अनेक भाव हैं । वह कुछ-का कुछ हो जाता है ।

"जीव अनादि और शाश्वत द्रव्य है । उसकी पर्यायें अनन्त हैं । कर्म के संयोग से इन पर्यायों की हानि वृद्धि होती है परन्तु द्रव्य की हानि वृद्धि नहीं होती ।

'जीव के भाव—पर्यायें फिरती हैं पर द्रव्य नहीं फिरता । इन भावों के अनेक भेद हैं । ये भाव निश्चय ही अशाश्वत हैं । विवेक पूर्वक इस बात पर श्रद्धा लाओ ।"

"जीव द्रव्यत्वं वा श्वत है और भावत्वं अशाश्वत है । ऐसा जिन-भगवान ने भगवती सूत्र के ७ वें श्रुतस्कंध में कहा है । भाव जीव को अशाश्वत इस कारण कहा है कि उसकी पर्याय पलटती रहती है और द्रव्य जीव को शाश्वत इसलिए कहा है कि जीव कभी अजीव नहीं होता ।"

द्रव्य जीव और भाव जीव का कितना सुन्दर बोध इस ढाल में भरा हुआ है । निजगुणों के निमल होने से परगुण दूर पलाय हो' किवता सुन्दर बना है । ते प्रत्या हाण विरध हुवे कर्म स, पिण द्रव्य को नहीं हाण विरध हो' इस एक पद



में 'उत्पाद व्यय श्रौष्य'के सिद्धान्त का सार भर दिया है। चेतन जीव, जड़ पुद्गल को कैसे ग्रहण करता है—इसका गंभीर विवेचन उपरोक्त अवतरण में है। स्वामोजी की रचनाएँ इसी तरह अद्भुत आत्मज्ञान से भरी हुई हैं।

एक ढाल में कृगुरु-संगन का दुष्परिणाम बतलाते हुए आर+म के दोहे में कहा गया है : "ताल पुट विष को खाने से उसी समय जीवन का अंत हो जाता है परन्तु यदि कोई कृगुरु को गुरु कन लेता है तो अनेक जन्म जन्मान्तर तक चारों गतियों में भ्रमण करता है।" इस ढाल में कृगुरु पर एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त हैं। पाठक इसका रसास्वादन करें :

जाजम विच्छाई कृवा ऊमरे  
 चिहुं कने रे मेव्या ऊमर भार ।  
 भोळे वेस निग ऊमरे  
 ते वृवे मरे रे निग कृवा मकार ॥  
 तिम कृगुरु छं कृवा सागीवा  
 जाजम मम रे कने मावृ रे वेप ।  
 त्याने गुरु लेखव वंशणा कं  
 ते वृवे रे मृग्व अथ अंठेण ॥  
 कुगुरु मदसुंजा गारवा  
 त्यारी श्रद्धा हो खोटी माइ ममान ।  
 भारी कर्मा जीव तिणवा साग्या  
 त्याने मोखं हो खोटी मरधा मे थाण ॥

अर्थात् : "एक जाजम के चारों कानों पर भार रक्ख, यदि एरु कृत्रे को रूक दिया जाय और उस पर काड़े मूर्ख आ बठे ता वद वृव मरेगा या नदी ? कृगुरु कृए के सदृश हैं। उनके पास साधुओंका वेष है, वह जाजम की तरह हैं। उनके वेष को

देख, जो उन्हें सच्चा गुरु समझ वन्दना करता है वह स्थिति का नहीं देखनेवाला मूल और अर्ध पुरुष भवभव में डूबता है।'

स्वामीजी का कुगुरु पर यह दृष्टान्त कितना सुन्दर और मौलिक है! वष से कोई साधु नहीं होता, गुण से होता है। आजम से ठका हुआ कुवा भी कुवा हो रहेगा। उस पर बैठने वाले की मृत्यु होगी। उसी तरह कुगुरु को सगत करने वाला दूब मरेगा। सत्संगति की ओर मोड़ने वाला यह दृष्टान्त कितना उद्बोधक है, यह पाठक रक्ष्य ही अनुभव करते होंगे।

कुगुरु पर दूसरा दृष्टान्त भद्रभूजे का है। जो राजस्थान के प्रामीण-जीवन से परिचित हैं, उन्हें यह दृष्टान्त बड़ा ही फनता लगेगा।

'कुगुरु भद्रभूजे के सामान हैं और उसको भद्रा भाद्र के समान छोटी है। कर्मों से भारी हुए जीव घास-पूस के समान हैं जिनको कि कुगुरु छोटी भद्रा रुपी भाद्र में नौका करते हैं।'

'बारह व्रत को चौपाई' भी गीतिकव्य का उत्कृष्ट नमूना है। स्वामीजी ने इस रचना में श्रावक के बारह व्रतों का विवेचन इतने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ किया है कि पढ़ने वाले को आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। इस रचना के दोहे भी बड़े सारगर्भित और अथ-गौरव गंभीर हैं। सरल भाषा, गम्भीर स्पष्टीकरण और वैज्ञानिक विश्लेषण शैली के कारण यह रचना इस विषय की रचनाओं में प्रमुख स्थान प्राप्त करे ऐसी है।

इस रचना के कुछ दोहे पाठकों की जानकारी के लिए नीचे देते हैं। दूसरे से पाचवें व्रत के आरम्भ के दोहे इस प्रकार हैं

दूजो व्रत श्रावक तणो, करे छठ परिमाण।

त्यागो माठो जाण ने पाळे जिनवर थाण ॥

छठो बोला मानवो नहीं ज्यारी परतीत।

मिनख जमारो हारने, बरकाँ होम फजीत ॥

तीजो व्रत श्रावक तणो, करे भदत्तरा त्याग ।  
 मन में समता भाण ने, चोढे भाव वैरग्न ॥  
 इहल्लोके जस अति घणो, परलोके पाय ।  
 भाव सहित आराधियां, जनम-मरण मिट जाय ॥  
 चोरी करे ते मानवी, गया जमारो हार ।  
 मिनस तणो भव खोयने, नरका खावे मार ॥  
 मनुष्य तणो भव पाय ने, जे नर पाले शील ॥  
 शिव रमणी बेगा बरे, करे मुक्ति में लील ॥  
 साधु त्यागे सर्वथा, गृहचारी पर नार ।  
 माठी नजर जोवे नहीं, तिणरो खेवो पार ॥  
 कैदक मानव एहवा, आणे मन वैरग्न ।  
 भोग जाणे विष सारखा, घर नारी दे त्याग ॥  
 पाचवें व्रत त्यागे परिग्रह, ते परिग्रह हो मूर्छा जाण ।  
 तिण सूं निरन्तर जीव रे, पाप लागे छै आण ॥  
 ए मोटो पाप छै परिग्रहो, तिण श्री गोता खाय ।  
 सासो हुवे तो देखल्यो, तीन मनोरथ माय ॥  
 ए अनर्थ ज्ञानी भाखियो, नरक ले जावे ताण ।  
 यती मार्ग नूं भजणो, निषेध कियो इम जाण ॥  
 खेत्तु वत्थु हिरण सुवर्ण तणो, धन धान वळि जाण ।  
 द्विपद ने चौपद तणो, कुम्भी धातु तणो प्रमाण ॥  
 खेत उघाढ़ी भूमिका, वत्थू हाट हवेली जाण ।  
 रुपा ने सोना तणो, करे शक्ति सारु पचखाण ॥  
 सचित्त अचित्त मिश्र द्रव्य छै, या सगलारो करे प्रमाण ।  
 मूर्छातेअभिनर परिग्रहो, तिण सू पाप लागे छै आण ॥

भारजपरिग्रहो नवनात रो, ममता करि प्रस्यो छै ताण ।

तिण सू' गनि परिग्रह कह्यो, तिण थी पाप लगै छै भाण ॥

पाठक देखें कि इन दोहों में एक भी शब्द भरती का या निरर्थक नहीं। दोहों में भी एक सुन्दर सुमधुर तान है। “माठी निम्बर जोवे नहीं तिणरो खेबो पाण,” यह पद तो रात-दिन रहने जैसा है। ‘झूठा बोझ मानवी, नहीं प्यारी परतीत’ ‘चोरी करे ते मानवी गया जमारो हार ‘भोग जाणे विष सास्खा घर नारी दे त्याग’ ते परिग्रणहो भूछाँ जाण’ यति भागनो भंजयो नक सेजावे ताण’—आदि केवल सुन्दर उपदेश-पद ही नहीं हैं पर उनमें छाँत काव्य का अनी-रस भरा पड़ा है। पढ़ने से ही भावनाएँ निर्मल होती हैं और मन वैराग्य की ओर मुड़ कर सवेग रस में मूलने लगता है। भाव और भाषा दोनों पर कवि का समान अधिकार उसके कलाकार का सुन्दर परिचय देता है।

अणुव्रत और गुणव्रत का सम्बन्ध, इस रचना के दोहों में इतने सुन्दर और स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि उन्हें यहाँ देने का लोभ सनरण नहीं होता

पांच अणुव्रत धारता मोटी बांधी पाल ।

छोटा री अव्रत रही, ते पाप आवे दगचाल ॥

तिण अव्रत ने भेटवा भणो पहलो गुण व्रत देख ।

दिशि मर्यादा मांड ने टाले पाप विक्षेप ॥

मारिखो अव्रत भेटवा, दूजो गुण व्रत धार ।

द्रव्यादिक त्यागन करे भोगादिक परिहार ॥

जे द्रव्यादिक राखिया, जेहनी अव्रत जाण ।

अर्ध दण्ड छूटे नहीं, अनथ दण्ड पचत्राण ॥

‘पाँचों व्रतों को धारण करते ही स्थूल हिंसादि पापों से विगति रूप नहीं पाल बांध दी जाती है फिर भी सूक्ष्म हिंसादि पापों से अविरति रहने से कर्म रूपी बल बेरोक-टोक आता रहता है।

इस अविरति को मिटाने के लिए पहले गुण व्रत का विधान है। इस गुण व्रत में दिशि मर्यादा कर, उसके बाहर सूक्ष्म पापों से विशेष रूप से निवृत्त हुआ जाता है।

मर्यादा कृत क्षेत्र में जो सूक्ष्म अविरति रह जाती है उसको मिटाने के लिए दूसरा गुणव्रत—उपभोग परिभोग परिमाण—धारण करना होता है। इस गुणव्रत में द्रव्यादिक का त्याग और भोगादिक का परिहार करना पड़ता है।

मर्यादित क्षेत्र में जो मर्यादिन वस्तुओं के सेवन की छूट रख ली जाती है। वह भी अविरति है। इस अविरति को सक्षिप्त करने के लिए अर्न्त दण्ड त्याग अर्थात् बिना प्रयोजन पाप कर्म करने का त्याग किया जाता है और केवल प्रयोजन से पाप की छूट रह जाती है।”

अणुव्रत और गुणव्रतों के परस्पर सम्बन्ध का इतना हृदयग्राही विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

अब हम गुणव्रतों के दोहे देते हैं :

छट्टो व्रत श्रावक तणो, करे दिशा षणो परमाण ।

हिंसादिक त्यागे छऊं दिशा तणी, मन मांदि समता आण ॥

सातमो व्रत श्रावक तणो, तिण में भोग उपभोगना त्याग ।

गमती वस्तु त्यागे छे तेह ने, आवे अधिको वैगण ॥

भोग आवे एकवार में, ते कर्हिण उपभोग ।

वारंवार भोग आवे जीवने, तिण ने कहुयो छै परिभोग ॥

उपभोग परिभोग त्याग्या विना, अवृत में कहुयो भगवान ।

त्या रो त्याग करे सत्गुरु कने, ते सातमो वृत प्रधान ॥

उपभोग परिभोग काम छै, भोग महा दुःख खान ।

किम्पाक फलनी दिशो उपमा, भगवत श्री वर्द्धमान ॥

अर्थ ते मतलब आपरे सावय करे विविध प्रकार ।  
 अनथ ते मतलब बिना, पाप करता पिण करे न मूळ लियार ॥  
 पाप करे अर्थ अनथ कारणे, त्यां ने रुढी रीत पिछाण ।  
 अवय दण्ड छोडणो दोहिलो पिण अनथ रू करे पचखाण ॥

अब हम शिक्षा वृत के दोहे देते हैं

पांच अणुवृत पाठशां गुणवृत देख कहाय ।  
 शिक्षा मत च्याह चौकडी कहिए उपमा जाय ॥  
 जिम देवल कइशी चढे, मुकुट मस्तक अन्त ।  
 इम समदृष्टि जीवडा, शिक्षा मत पालत ॥  
 मत भाहु ई पहला कइ, जाव जीव लग जाप ।  
 शिक्षा मत च्याह तणा, विविध पणे पचवखाण ॥  
 सामान्यक महुमत पकनी, जो करे चित्त लाय ।  
 देशानगासी वृत ना जेम करे निम्र थाय ॥  
 पोसो हुवै दिन एत रो, जो भावे निमल ध्यान ।  
 बारमों मत सुध साधने, प्रतिकाभ्यां थो थाय ॥  
 अतिथि संविभाग चौथो शिक्षा, ते बारमो मत रसाल ।  
 समण निमन्य अणगार ने, दान दवे दगचाल ॥  
 ते फसू अचित्त ने सुमत्तो, कल्पे ते द्रव्य अनेक ।  
 कल्पे ते खेतर काळ में, दान दे थाण चित्तक ॥  
 जो उ दान दे मुगत रे कारणे और बछ नहि कइय ।  
 अब निपजै मत बारमो, इम भाख्यो जिन राय ॥  
 इगारा मत बस आपरे, मन माने अब निपजाय ।  
 बारमो मत शुद्ध साधने, प्रतिकाभ्यां उ थाय ॥

लाखां कोबा खरचिया, जीव अनन्ती बार ।  
 पिण दान सुपात दोहिलो, ते जीव तणो आधार ॥  
 ए व्रत निपावा कारणे, उद्यम करे नितमेम ।  
 भावे साधारी भावना, हाथे दान देवा सुं प्रेम ॥  
 एक में स्वामीजी ने व्रत भग करने के दोष पर विचार किया है । इस  
 बाल के कई पद सदा ध्यान में रखने योग्य हैं । हम उन्हें यहां देते हैं :

छोटो मोटो सुंस व्रत आदरो तो,  
 पालज्यो रूढी रीत ।

ते सुंस भांगने भिष्ट हुवा ते,  
 चिहुँ गत में होसी फज्जीत रे ॥ भ० ॥ \*

छोटोई सुंस भांगे छै तिण में,  
 हवाल पड़े छै अनन्त ।

तो मोटो सुस भांगे छै तिणरो  
 होसी कुण विरतत रे ॥ भ० ॥

दिसा झूठ चोरी ने मैथुन परिग्रहो,  
 त्याने त्यागे छै आण बेरागो ।

त्यारा त्याग जाणने भांगे  
 तिणरो छं पूरो अभागो रे ॥ भ० ॥

करड़ा करड़ा सुंस क्रिया  
 त्याने भाग करे चकचूर ।

ते बूझा छै बापड़ा जीव अज्ञानी  
 ते पड़ गया मुगत सुं दूर रे ॥ भ० ॥

---

\*भविष्यण सुंस म भांगो लिंगारि  
 सुस भाभ्या सुं घणी खुवारी रे ।  
 भ० टांको म्फले तो अनन्त ससारो

प्रत भांग ने भागल हुबो तिण  
 दिबो जीतव जन्म विणाइ ।  
 नर्का तर्णा पाहुणा होय बेछ  
 गया जमारो हार रे ॥ म० ॥  
 सुस तर्णा भागल छै त्पाने  
 जक कटे नहीं होय ।  
 दुख भोगवता नर्क मं निरन्तर  
 त्यां छख नो सचार नहीं कोय रे ॥ म० ॥  
 सुसां रो भागल ससार मांहे रुळे तो  
 सतकृष्टो अनन्तो काल । -  
 ते तो नर्क निगोद में म्हीका खासी  
 तिणरो बेगो न आवे निकाल रे ॥ म० ॥  
 इह लोग में पिण फिट्ट फिट्ट होवे  
 सुस प्रत नो भागण हार ।  
 मत्तक नीचा घाले लोकां में  
 तिण ने सहु कोई बेवे थिक्कर रे ॥  
 लज्जा रहित निरलजा मानव  
 सुंस भांगता मूल न लाजे रे ।  
 तिण ने परलोक रो परषाह नहीं दिसे  
 निक्कर पाइ गीदक जिम भागे रे ॥  
 पाप करे तिण ने पापी कहीजे  
 पाप्यां सणी पात मांही ।  
 पिण सुस भांगे ते महा पापी छे  
 महा पापी तणी पात मांही रे ॥



जातवत लज्यावत कुलवंत तिणरो,  
 ' जोगे गयो वृत भागी ।  
 ते परभव ने लौकिक सु डरतो,  
 पाछो उठ खडो रहे जागी रे ॥  
 भागल होय ने पाछा उठ्या अनन्ता  
 टाल्या आत्मा ना सर्व दोष ।  
 सुंस भांग ते पाछा सन्ताप सुं  
 उण हिज भव पहुंता मोक्ष रे ॥  
 सुंस भाग ने भागल भिष्ट हुवे तो  
 धर्म सुं हाय गया रीतो ।  
 काल कियो आलोया पडिकमिया विण,  
 तिण में भव-भव में होसो कुपोतो रे ॥

उपरोक्त पदों में स्वामीजी ने कहा है कि हिसादि पापों का जो आचरण करता है, वह पापी हो कहलायेगा पर जो हिसा आदि पापों के त्याग स्वरूप अहिसादि महाव्रतोंको ग्रहण कर, उनका पालन नहीं करता वह महापापी की कोटि में आता है । सम्भव है कि कर्म योग से कभी मनुष्य अपने व्रत से गिर जाय पर जो जाति-धर्म, कुलवन्त होता है वह फिर सजग हो, उठ खड़ा होता है और आत्म-सन्ताप से आत्म-शुद्धि कर, अपने मुमुक्षु भाव को जाग्रत रखता है । स्वामीजी ने व्रत भंग के दुर्गतिकारक परिणामों का रोमाञ्चकारी दृश्य खींच, “प्राण जाय पर प्रण न जाहि”—की भावना का चिरस्थायी उपदेश दिया है ।

विनय को भगवान महावीर ने वर्म का मूल कहा है । विनय के सम्यन्ध में स्वामीजी कहते हैं :

विनय मूल धर्म जिन कह्यो ते जाणै विरला जीव  
 ते सतगुरु रो विनय करे त्या दौधी मुक्ति री नीवं

जो कुगुरु तपो विनय करे तो किम उतरे भव पार  
 क्यां सुगुरु-कुगुरु नवि ओलस्या ते गया जमारो हार  
 कई भज्जानी हम कहे गुरु ने बाप एक होय  
 भूटा भला ते गुरु कथा, त्यां ने नवि छोड़ना कोय  
 जिण भागम माहि हम कथो गुरु करणा गुण देख  
 खोटा गुरु ने नवि सेवणा, त्यांरी कीमत करणी विशेष  
 खोटो नाणो न सांतरो, एकाण भोली भांय  
 ते भोलां रे हाथे दियो जुयो किंयो किम जाय  
 जिणरी बुद्ध छे निर्झी ते देखे दोनां री चाल  
 कुगुरां न नाके करे साथ बादि पग भाल

जिन भगवान ने विनय को धर्म का मूल कहा है—ऐसा सब कोई करते हैं पर इसके रहस्य को बिरछे ही समझते हैं। भगवान के श्रवणों का रहस्य यह है कि जो सत्-गुरु का विनय करता है वही मुक्ति की जीव बख्ता है।

जो असत्-गुरु का विनय करता है वह किस तरह इस भव का पार पा सकता है ? जो सत्-असत् गुरु की पहचान नहीं करता वह मलय-अवतार को भी ही मनाता है। कई भज्जानी ऐसा कहते हैं कि बाप और गुरु एक समान होते हैं अच्छा और बुरा क्या जिसे एक बार मुख से गुरु कह दिया उसे नहीं छोड़ना चाहिये।

पर यह बात न्यायोचित नहीं है, क्योंकि जिन भागम में ऐसा कहा है कि गुण देखकर गुरु करना चाहिये। कुगुरु को संगत नहीं करनी चाहिये। गुरु-अगुरु की विशेष परीक्षा करनी चाहिये।

खोटा और खरा सिक्का एक मोली में डालकर मूल के हाथ में देने से वह उन्हें जुरा कस कर सकता है ? जैसे ही एक नेप में रहने वाले साधु-असाधु की परीक्षा भज्जानी से नहीं हो सकती।

जिसकी बुद्धि निर्मल होती है वह रूपों की आवाज से उनकी परख करता है। उसी तरह विचक्षण पुरुष चाल—आचार—विचार—देख कर गुरु-कुगुरु का निर्णय करते हैं और इस तरह परिक्षा से कुगुरुओं को दूर कर सत्पुरुषों की चरण-संवा करते हैं।

रूपयं की परीक्षा आवाज से होती है और साधु की परिक्षा चाल से। कितना सुन्दर बोध कितने सरल दृष्टान्त से दिया है! 'चाल' शब्द कितना भावपूर्ण और अर्थ-गौरव को लिए हुए है! आचार-विचार—दर्शन-चारित्र्य दोनों की भावना को उपस्थित कर यह शब्द कितना अभिव्यक्तिशील हो उठा है हसी विषय पर विचार करते हुए एक जगह कहा है :—

नील टांच कीडा चुगेजी  
मांहि बिराजे राम ।  
गुरु करणी रो कारण को नहिं  
म्हारे दर्शन सुं हिज काम ॥  
चतुर नर छोड़ो कुगुरु  
नील टांच कीडा चुगेजी  
तिणरे दया नहीं घट मांहिं ।  
पापी रो मुख देखतां जी  
भलो कठा सुं थाय ॥  
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग  
गुण लारे पूजा कही जी  
तोहि निगुण पूजता जाय ।  
चोड़े भूल्या मानवी जी  
त्यानि किम आंणीजे ठाय ॥  
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग

जो कुगुरु तपो विनय करे तो किम उतरे भव पार  
 क्यां सुगुरु-कुगुरु नवि ओलस्या से गया जमारो हार  
 कई भ्रष्टानी इम कहे गुरु ने बाप एक होम  
 भूबा भला से गुरु कथा त्यां ने नवि छोड़ना कोय  
 जिण आगम मांदि इम कथो गुरु करना गुण देख  
 खोटा गुरु ने नवि सेवणा, स्यारी कीमत करणी विशेष  
 खोटो नाणो न सांतरो, एकण बोली मांय  
 ते भोत्रं रे हाये दियो जुयो किमो किम जाय  
 जिणरी बुद्ध छे निर्झी वे देखे दोनां री चाल  
 कुगुरां न नाके करे, साध नदि पग फल

जिन भगवान ने विनय को धर्म का मूल कहा है—ऐसा सब कोई करते हैं पर इसके रहस्य को बिरछे ही समझते हैं। भगवान के बचनों का रहस्य यह है कि जो सत्-गुरु का विनय करता है वही मुक्ति की नींव डालता है।

जो असत्-गुरु का विनय करता है वह किस तरह इस भव का पार पा सकता है ? जो सत्-असत् गुरु की पहचान नहीं करता वह मनुष्य-अवतार को यों ही गवांता दे। कई भ्रष्टानो ऐसा करते हैं कि बाप और गुरु एक समान होते हैं; भ्रष्ट और गुरु क्या जिसे एक बार मुख से गुरु कह दिया उसे नहीं छोड़ना चाहिये।

पर यह बात न्यायोचित नहीं है, क्योंकि जिन आगम में ऐसा कहा है कि गुण देखकर गुरु करना चाहिये। कुगुरु की संगत नहीं करनी चाहिये। गुरु-अगुरु की विशेष परीक्षा करनी चाहिये।

खोटा और खरा सिक्का एक बोली मं डालकर मूल के हाथ में देने से वह उन्हें चुन कर सकता है ? जैसे ही एक वेप में रहने वाले साधु-असाधु की परीक्षा भ्रष्टानो से नहीं हो सकती।

जिसकी बुद्धि निर्मल होती है वह रूप्यों की आवाज से उनकी परख करता है। उसी तरह विचक्षण पुरुष चाल—आचार—विचार—देख कर गुरु-कुगुरु का निर्णय करते हैं और इस तरह परिक्षा से कुगुरुओं को दूर कर सत्पुरुषों की चरण-संवा करते हैं।

रूप्यों की परीक्षा आवाज से होती है और साधु की परिक्षा चाल से। कितना सुन्दर बोध कितने सरल दृष्टान्त से दिया है! 'चाल' शब्द कितना भावपूर्ण और अर्थ-गौरव को लिए हुए है! आचार-विचार—दर्शन-चारित्र्य दोनों की भावना को उपस्थित कर यह शब्द कितना अभिव्यक्तिशील हो उठा है हसी विषय पर विचार करते हुए एक जगह कहा है:—

नील टांच कीड़ा चुगेजी

मांहि बिराजे राम।

गुरु करणी रो कारण को नहिं

म्हारे दर्शन सुं हिज ॥

चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग

नील टांच कीड़ा चुगेजी

तिणरे दया नहीं घट मांहिं।

पापी रो मुख देखतां जी

भलो कठा सुं थाय ॥

चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग

गुण लारे पूजा कही जी

तोहि निगुण पूजता जाय।

चोड़े भूल्या मानवी जी

त्यांने किम आंणीजे ठाय ॥

चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग

जो भ्रष्ट—आचार-विचार से गिरे हुए—गुरु होते हैं, उन्हें तुरन्त छिटका देना—  
दूर कर देना चाहिए ।’

‘चाँड़े भूल्या मानवीजी त्यांने किम आणी जे ठाय’—मैं कितनो गहरी  
हृदयवेदना छिरी हुई है। ‘गुण लारे पूजा कही तोहि निगुण पूजता जाय’—  
मैं कितना तीव्र पर मधुर व्यग है ! निगुण गुरुपूजा का हृदयग्राही सुन्दर  
खण्डन, कवि की अनोखी सूझ, गहरे अनुभव और सदाचार के प्रति उनके हृदय  
में रही हुई महान् प्रतिष्ठा का मनोहर दृश्य उपस्थित करता है। नील टॉच के  
हृदय में राम को मानकर उस के दर्शन में धर्म मानने की मिथ्या मान्यता का  
सहेतु खण्डन स्वामीजी के प्रबल बुद्धिवादीहोने का ज्वलंत उदाहरण है। सोने  
की छुरी का दृष्टान्त मौलिक होने के साथसाथ अत्यन्त रोचक और चित्ताकर्षक  
है। इसी विषय की एक ढाल के कुछ पद हम यहाँ और देते हैं, क गाकर  
देखें—उनमें कितनी सुमधुर तान, कितना प्रासाद रस, भावों की कितनी उड़ान  
और अनुभव की कितनी गहरी पुट है ! स्वामीजी कहते हैं :

सुध साधां पे घर छोड़ी सूत्र भणे रे  
आचार सरधा में देखे चूक रे  
तो काण न राखे चला गुर तणी रे  
खोटा जाणी ने जावे मूक रे  
अजाणपणे कुगुरु ने गुरु करे रे  
ठीक पडीयां छोड़े तत्काल, रे  
त्यागी वयरागी ल्यां ने जिण कहा रे  
सांहसी हुवे सो सूत्र संभाल रे  
साधां मांह सुं नीकल भागल हुवे रे  
केइ भागल छोड़ी ने होवे साध रे  
थोहरा घणं रो कारण को नहीं रे  
सुध सरधा थी पांमे सदा समाध रे

तब के अनेक अमोक्षक जीवन-सूत्र दिए हैं जो साधुओं के ही नहीं परन्तु बाधकों के जीवन को भी अत्यन्त महान् बना सकते हैं ।

स्वामीजी ने एक स्थान पर कुनारी, त्रिभाव का चित्रण किया है । स्वामीजी कहते हैं कि 'सती' कुसती में एक 'कु' का अन्तर होता है परन्तु यह अन्तर इतना बड़ा होता है कि सति 'शौचगुण' की स्थान होती है और कुसती अशुचिगुण की । सती सती के सारस्वी होती है जिसका वर्णन जिनश्वर भी करते हैं और कुसती कपिला सारस्वी जो कुल को कलङ्कित करती है । इतनी भूमिका बाधने के बाद प्रसंग बश कुसती का स्वभाव वि करते हुए लिखते हैं

नारी कूड़ कपट नी कोथली, अशुचिगुण जो म डार । भ० च० क  
 कूड़ करवा ने सातरी भेद पढ़ावनद्वार । भ० च०  
 देहली चढ़ती दिग पद चढ़ आवे डूंगर असमान । भ० च०  
 पर में बैठे हर करे, रावे जाय मसाण । भ० च०  
 देल बिबाई ओदके सिघ ने सन्मुख जाय । भ० च०  
 साप वसीसे दे सोबे उरर स्यु भिड़काय । भ० च०  
 कोयल मोर तनी परे बोलै मीठा बोल । भ० च०  
 शीशुर कड़वो कुक-सी बाहिर करे फिलोल । भ० च०  
 लिन रोवे लिन में हँसे लिन मुख पादे बूध । भ० च०  
 लिन रामे बिरचे लिन लिन दाता लिन सम् । भ० च०  
 ल भर्ता बंकर करे ऐसी नार अलाम । भ० च०  
 लरभू नबदे निज कथने, जाणैक असल गुलाम । भ० च०  
 ली न कपट कोठदी ए वेहुं एकज रङ्ग । भ० च०  
 लक न कपट करे नारी करे शील भग । भ० च०  
 ल दे क दोनू एक स्वभाव । भ० च०  
 तिण स्यु वेहु लग जाव । भ० च०

भृगु ज्युं परिहा छे कूर जाल में रे  
 चारित लेने करे अहंकार रे  
 ते भमण करसी गाढ़ा दुखिया घणार रे  
 भवकूट सहसार मझार रे  
 पंजा सलाघा ऊंचा गोत ने रे  
 पाया जीव अनंती वार रे  
 वयरामे घर छोड़ी संजम लीयं रे  
 गर्व छोड़े तो खेवो पार रे

अर्थात् : “जो अत्यन्त क्रोधी होते हैं, अप्रिय वचन बोलते रहते हैं और शांत कलह को करने के लिए तैयार रहते हैं—ऐसे साधु क्षमा के मार्ग को छोड़ कर उजड़ पड़ गये हैं—भटक गये हैं और इस संसार—अटवी में दुःख पायेंगे।

‘भेष धारण कर कइ ऐमे हल्के वचन कहते हैं’ कि हमारी तरह ज्ञान का भण्डार कौन है ? हम जीवादि नव तत्वों का सूक्ष्म निर्णय करते हैं’ एवं तपस्वी अणगार हैं।

“जो दूसरे शुद्ध साधु श्रावकों को बिम्ब मात्र—आकार मात्र समझते हैं—जो साधु वेपमें भी ऐस अहकारी हैं’ उन्होंने नरक जाने की साई दे दी है।

“जो चरित्र ग्रहण करके भी अहंकार करते हैं’ वे भृगु की तरह कूट पास में फंस, गाढ़ दुःख पाते है और कूट जन्म-जन्मान्तर रूप संसार में भ्रमण करते हैं’

“पूजा—सत्कार, शलाघा, उच्च गोत्र—इन्हे जीव अनन्त वार प्राप्त कर चुका नौराम्य पूर्वाक घर छोड़, सयम लेने के बाद जो गर्व छोड़ता है, उसका खेवापार होता है।”

क्रोध और अभिमान को हटा, क्षमा और मार्दव के मार्ग को ग्रहण करने का उपदेश कितना सरस और श्रेयस है ! ‘गर्व छोड़े तो खेवो पार रे—इस छोटे से वाक्य में कितना सुन्दर जीवन-सूत्र है ! स्वामीजी ने अपने लोक-काव्यों में इसी



तरह के अनेक अमोलक जीवन सूत्र दिए हैं जो साधुओं के ही नहीं परन्तु भावकों के जीवन को भी अत्यन्त महान् बना सकते हैं।

स्वामीजी ने एक स्थान पर कुनारी, स्वभाव का चित्रण किया है। स्वामीजी कहते हैं कि 'सती' 'कुसती' में एक 'कु' का अन्तर होता है परन्तु यह अन्तर इतना बड़ा होता है कि सति 'शोचगुण' की खान होती है और कुसती अवगुण की। सती सीता के सारखी होती है जिसका वर्णन जिनेश्वर भी करते हैं और कुसती कपिला सारखी जो कुल को कलङ्कित करता है। इतनी भूमिका बाधने के बाद प्रसंग वश कुसती का स्वभाव वि करते हुए लिखते हैं

नारी कूड़ कपट नी कोथली, अवगुण नो भ डार । भ० च० ३  
 कलह करघा ने सातरी भेद पढ़ावनहार । भ० च०  
 देहली चढ़ती डिग पढ़े चढ़ आवे डूंगर असमान । भ० च०  
 घर में बैठी छर करे, राते जाय मसान । भ० च०  
 देख बिलाई धोवके सिघ ने समुल जाय । भ० च०  
 साप उसीसे दे सोवै उदर सु भिडकाय । भ० च०  
 कोयल मोर वनी परे बोलै मीठा धोल । भ० च०  
 भीतर कड़वो कुक-सी बाहिर करै निलोल । भ० च०  
 खिण रोवै खिण में हँसे खिण मुख पाइ वृथ । भ० च०  
 खिण राचै विरछे खिणै खिण दाता खिण सम । भ० च०  
 धग करता धकल करै ऐसी नार अलाम । भ० च०  
 बन्दर ज्यू नचावै निज कथने, जाणैक असल गुलाम । भ० च०  
 नारी न काजल कोठड़ी ए वेहुं एकज रङ्ग । भ० च०  
 काजल नर काळो करै नारी करै शील भग । भ० च०  
 नारा ने घन बेलड़ी, दोनू एक स्वभाव । भ० च०  
 कटक रुँस कुशील नर तिण सु वेहु लग जाव । भ० च०

❀ भनियण । चरित्र सुणो नारी वणा

नाम छै अबला नारनो, पण संबली छै इण संसार । भ०  
 सबला सुर नर तेह ने, निबला कर दिया नार । भ० च०  
 सुर नर किन्नर देवता, त्याने पिण वश किया नार । भ०  
 नाख्या नरक निगोद में, त्यारी तो बम्ब न बार । भ० च०  
 नैण वैण नारी तणा, वचनज तीखा सेल । भ०  
 अँग तीखो तलवार ज्यूं, इण माखो सकल सकेल । भ० च०  
 बिरची तो बाघन स्युं बुरी, स्त्री अनरथ मूल । भ०  
 पाप करी पोतै भरै, अँग उपजावै मूल । भ० व०  
 मोर तणी पर नेहना, बोलै मीठा बोल । भ०  
 साप सपू छोई गलै, पाइ लेवै नर भोल । भ० च०  
 पुरुष पोतै कपड़ा जिसा, नर गुण नवी भात । भ०  
 नारी कातर वश पञ्चां, काटै है दिन रात । भ० च०  
 बाघन बुरी वन मांयली, विलगी पकड़ी खाय । भ०  
 नारी बाघण वश पञ्चा, नर न्हासी किया जाय । भ० च०  
 फाटा कानारी जोगणी, तीन लोक ने खाय । भ०  
 जीवंती चुटे कालजो, मुवा नर्क ले जाय । भ० च०  
 नारी लखणा नाहरी, करै वचन री चोट । भ०  
 केईक मन्त जन ऊत्रखा, लीधी दयानी ओट । भ० च०  
 त्रिया मदन तलावड़ी, डूब्यो बहु ससार । भ०  
 केईक ऊत्तम नर ऊत्रखा, सत शुठ वचन सभाल । भ० च०  
 जिम जलोक जल मायली, तिम नारी पिण जाण । भ०  
 वा लागी लोही पोव, नारी पियै निन्न प्राण । भ० च०  
 राता कपड़ा पहिर ने, काठा बाभ्या माया रा केश । भ०  
 हाया मेदी लगाय ने, इण ठगोरो ठगियो सारो देश । भ० च०

लोक कहै ग्रह बारमो जागो हुणे प्राण । भ०  
 हावै नरक निगोद में, नारी नव ग्रह जाण । भ० च०  
 क्षण रुसार असार में तिणमें मोटी गाल । भ०  
 माणस खोवै मारीजै, गावै टोडर माल । भ० च०

स्वामीजी जिस चोज का बणन करने बैठते, उसका चरम व चरम कोटि का सुन्दर वर्णन उपस्थित कर सकते । उनकी बुद्धि सावण-भादों के बादलों की तरह बपती रहती और नए भाव, नई उपमाएँ, नए दशान्त, नई सूक्त, नये स्वर और नई ताल की धूलों से श्रोता के हृदय हरे-भरे होते रहते । वे अनुपम उपदेशा अनुपम रूपक और अनुभव ज्ञान की शिखेणी बहा देते । उनकी लेखनी कभी रूकती नहीं थी । उनकी वाचा में कभी शिथिलता नहीं आती थी ।

कुलटा के साहसिक स्वभाव का जो चित्रण स्वामीजी ने ऊपर किया है, वह मानव स्वभाव की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावनाओं का तलस्पर्शी अध्ययन उपस्थित करता है । स्वामीजी के हृदय में सती स्त्रियों के प्रति आदर की भावना है पर उन्हें तो यहाँ पर कुलटा नारी के स्वभाव का चित्रण करना है और इसे बड़ी ही सूची क साथ उन्होंने किया है । एक ओर अवलाकी अवलता के उदाहरण हैं । दूसरी ओर कुलटा के असाधारण साहसिकता के उदाहरण । कुलटा नारी को काजल की काठरी को उपमा स्वभाविक ही नहीं पर सवधा उपयुक्त भी है । काजल बरत और शरीर को काल करता है; कुलटा नारी शील को क्लृप्त करती है । कुलटा नारी के स्वभाव की तुलना वन-बेलके साथ बड़ी ही सुन्दर फकी है । वन-बेल कांटों वाले रुक के चिपट जाती है, कुलटा नारी दुर्चरित्र पुरुष से प्रेम करती है । नारी के नैन को बाण, मधुर प्रेममय में मधुर शब्दों को भाके की उपमा, उरोज आदि भ्रमों को लोधी तलवार की उपमा—कवि की वैराग्य भावनाओं का सुन्दर परिचय देता है । नारी इन छायों से सुसज्जित हो—किस तरह सारी श्रुति का सहार करती

है—यह कवि ने थोड़े, परन्तु सचोट शब्दों में व्यक्त किया है। “पाप करी पोते भरे, अग उपजावे सूल” कितना सुन्दर और अभिव्यक्तिपूर्ण है। मोर में एक ओर मीठी बोलो होती है, दूसरी ओर सपूछ सर्प को निगल जाने की क्रूरता। स्वामीजी कहते हैं कि कुलटा नारी में भी मोर का यह स्वभाव घटता है। स्वामीजी कहते हैं कि नारी दर्जन की तरह है जो पुरुष के गुण रूपी भाँति २ के वस्त्रों की रात दिन कतरन करती रहती है। नारीको योगिनी की उपमा भी एक अनोखी सूक्त है। “जीवन्ती चूटे कालजो, मूवा नर्क ले जाय” तो वैरागी हृदय की अनुभव बाणी है। कुलटा नारी को नव ग्रह की उपमा, मदन-तालाब की उपमा, जलोका की उपमा—कवि को ऊँची उडान और अनोखी सूक्त का परिचायक है। स्वामीजी की कृत्तिया इसी तरह अपूर्व काव्य रस से ओत-प्रोत, सरस, सुबोध और ज्ञानमय हैं।

स्वामीजी की कविता क्या है—एक अनुभवी ज्ञानी की अनोखी वाचा है जो हृदय-तन्त्रो पर एक चिर मधुर संगीत छोड़ जाती है। स्वामीजी ने काव्य की वीणा पर इसी तरह के अनेक चिर यौवनमय संगीत गाये हैं।

स्वामीजी केवल उपदेशक कवि ही नहीं थे परन्तु कुशल चरित्र-चित्रकार भी थे। उनके व्याख्यान कलापूर्ण चरित्र-चित्रण की विशेषता के अपूर्व उदाहरण हैं। मानव भावों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण करने में स्वामीजी उतने ही सिद्ध हस्त थे, जितनी कि ग्रामोफोन के रेकार्ड पर चलने वाली नुकीली सूई रेकार्ड के गान को स्पष्ट करने में होती है। उनके मनोवैज्ञानिक कौशल और चरित्र-चित्रण की खूबो को देखना हो तो उनकी अमर कीर्ति ‘सुदर्शन सेठ’ के व्याख्यान पर दृष्टि डालिये। सुदर्शन सेठ अपने मित्र मंत्री कपिल के घर जाता है। कपिल की स्त्री कपिला सुदर्शन पर मोहित हो जाती है। वह ‘रूपे रम्भा सारमी, अपछर ने उरिा-हार’ तो थी ही, पर साथ ही ‘रूपवंत पुरुष देखे पारको, करती न शंके प्रीत’—ऐसी कुलटा भी थी। ‘रूप देर। विरहणी थई’—सुदर्शन के रूप को देखकर वह विरह

व्याकुल हो गई। 'काम तणे वश कामणी रे लाल, ना गिणे काज अकाम'—काम के वश हुई कामिनी किस तरह कार्य-अकार्य को ओर दृष्टि नहीं रखती इसका सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। विरह-व्याकुल कपिला अपनी दासी को सेठ सुदर्शन के पास भेजती है और वह छल-प्रपञ्च कर सेठ को महल में धुल्ला लाती है। इस समय कुलटा कपिला की दाली करतूत का चित्रण बड़ा ही रोमांचकारी है। सुदर्शन के मन की स्थिति भी बड़ी ही विचित्र होती है। सुदर्शन की मेरु के समान सुदृढ़ मनोदशा का चित्रण कवि ने बड़े ही सुन्दर रूप में किया है। इस अनहोनी घटना को भटित देख कर गात्र परसेओ चत्यो, कम्पन लागी देह—सुदर्शन के शरीर में पसीना बह चला, शरीर कांपने लगा और 'विलखो थयो स्वरूप'—बहरा उदास हो गया। वह सोचने लगा मैं चरित्र न जाण्यो नार नो, तिण ल्यु आय फत्यो छू पव्ह—और फिर उमने हृद प्रतिज्ञा धारण की पिण शील न खइ माहरो, आ करे अनेक उपाय, जो वस छै म्हारी आत्मा तो न सके कोई चलाय।' कपिला निराश हो गई। वह मूके ऊ हा निधास—गहरे निधास लेने लगी और 'म्हारी लाज शर्म दोनू गई, कोई न सरियो काज'—ऐसा विचार कर पछताने लगी।

उपरोक्त घटना के बाद धम्म नगरी के महाराजा दधिवाहन की महारानी अभया सुदर्शन पर मोहित हो जाती है। कपिला पूव वृत्त कह कर महारानी को सुदर्शन के प्रेम में न फसने को सलाह देती है। अभया कपिला को तोने पुरुष ने वश करवा तणी, कल्य न दीसे तिगार—कहकर उसे मूल-गवार नतलाती है। कपिला कहती है— आपतो बड़ी चतुर—सुजान हैं। देखें ! कैसे सुदर्शन को मोहित करता हैं।' इस तरह दोनों में जिद्दवाद होता है और अभया जिद्द पर चढ़ जाती है। जिद्द पर चढ़ी हुई नारी का चित्रण कवि ने इतना सुन्दर किया है कि पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है।

अभया सुदर्शन को परास्त करने का बीड़ा उठाती है। वह अपनी धाय से

अपनी मनोदशा प्रकट कर, सेठ सुदर्शन से मिलाने की युक्ति करने का अनुरोध करती है। हठ पर चढ़ी हुई विषयान्ध नारी की मनोस्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण करना हो तो अभया को इन बातों को छिनिये। विषयान्ध प्रेमिका को परपुरुष किस रूप में दिखायी देता है—इसका सुन्दर वर्णन यहां आया है। कवि की गूढ तूळिका का कौशल इस वर्णन में बड़े ही सुन्दर रूप में प्रगट हुआ है।

अभया राणी कहै धाय ने, म्हारी बात सुणो चित्त ल्याय हे माय ।

थे ब स्यूं मोटी करी, तोस्यूं बात न राखूं छिपाय हे माय ॥अभया०॥ॐ

मुक्त एक मनोरथ ऊपनो, बस रयो छै मन मांय हे माय ।

ते बात लजालु छै घणी, पिण कव्यां बिना सरै नांय हे माय ॥

वसन्त ऋतु खेलण गई, राय सहित वन मम्कार हे माय ।

तिण ठामे चम्पानगरी तणा, आया घणा नर नार हे माय ॥

च्यार पुत्र सहित परित्रार स्युं, तिहां आयो सुदर्शन सेठ हे माय ।

और सेठ बिजा पिण आविया, ते सुदर्शन रे हेठ हे माय ॥

तिणरा अणियाला लोयण भला, जाणक शौभे भाण हे माय ।

मुख पूनमचन्द सारखो, तेहनो रूप रसाल हे माय ॥

तिणरी काया कचन सारखी, सूर्य्य जिसो प्रकाश हे माय ।

शीतल चन्दन सारखो हेम सरीखो, उजलो प्रकाश हे माय ॥

तिण ने दिठा लोयन ठरै, तेहनो सोम स्वभाव हे माय ।

तिण आगै बीजा स्यूं बापड़ा, कुण राणो कुण राव हे माय ॥

म्हारो मन लागो छै तेह स्यु, जाणै रहुं सेठ रे पास हे माय ।

एह मनोरथ ऊपनो, रात दिवस रहो छु विमास हे माय ॥

तिण स्यू भूख तृषा न्हासी गई, निश दिन रहू छु उदास हे माय ।

म्हारो मन कठैई लागै नहौं, तिणस्यु कहु छु तुमारे पास हे माय ॥

हू मोही सुदर्शन सेठ स्यु, तिण स्यु लाम्यो म्हारो रत्त हे माय ।  
 सेठ स्युं मिल्दं नहीं त्हां लगे, दिन २ गळे छै म्हारो अन्न हे माय ॥  
 में कपिला ने बंद २ कक्षो, बस करु सुदर्शन सेठ हे माय ।  
 सुख भोगवूं नहीं सेठ स्यु ए वचन जाय म्हारो हेठ हे माय ॥  
 ए वचन तो ज्यांही गळो, म्हारी बछा पूरण हाम हे माय ।  
 ए मनोरथ पूर्यां बिना, म्हारे हाथ न लागे काम हे माय ॥ -  
 ए बात कही तुम्ह आगळे, अन्तर न राख्यो कोय हे माय ।  
 हिचै सेठ सुदर्शन भणी, बेग मिलावो मोय हे माय ॥  
 सौ बातां एक बात छै, ते कही कठा लग जाय हे माय ।  
 लाड पुरो माय मांहरा, तो जाणूं साची धाय हे माय ॥

उपरोक्त अनुशेष के बाद पण्डिता धाय और रानी अभया के बीच जा  
 वार्तात्म्य होता है, वह बका ही रसप्रद और स्वाभाविक है। पण्डिता की दिस-  
 शिक्षा और अभया का जिद दोनों चरम कोटि को पहुँच जाते हैं। पाठक इसका  
 भी रसास्वादन करें।

### पण्डिता धाय—

राणी ने हे समझावै पण्डिता धाय सुण बाइ धिक्त लगाय  
 एक सिखावण माहरी जी  
 इसकी बाता हे कहे बाइ मूढ गोंवार थे राय तणी पटनार  
 ए बात याने जुगती नहीं जी  
 ऊँचा कुच मं ह बाइ थे उपर्या भाण, बाई थे चतुर सुभाण  
 ए नीच बात किम काटिये जी  
 ण बातां ह बाइ अजे तुम्ह तात, बळे लजे तुम मात  
 बळे पीहर लजे तुम तपो जी

एहवी बाता हे बाई लाजै माय मोसाल, निज, कुल सामों निहाल  
 त्यांने लागे घणी मोटो मेंहणो जी  
 एक पीइर हे दूजो सासगे जाण, बेहु कुल चन्द समान  
 दोनूं पख थारै निरमला जी  
 इण वाता हे बाई लागे कुल ने कलङ्क, लागे पिढ्या लग लङ्क  
 ते सुण २ ने माथो नीचो करै जी  
 एहवी बातां हे बाई सुगे देश परदेश, सुणसी राय नरेश  
 निंदा करसो तुम तणी जी  
 राज माहे हे बाई थारी मोटी मण्ड, होसी जगत में भण्ड  
 शील बिना एक पलक मे जी  
 शील बिना हे बाई फिट २ करै सहु लोय, अपजश अकीरत होय  
 नर-नारी मुह मचकोइसी जी  
 पिता सूपी हे बाई घणा पुरुषा री साख, तिण ऊपर निसचो राख  
 पुरुष तणी सेवा करो जी  
 पर पुरुष हे बाई जाणो भाई समान, ए सीख हमारी मान  
 ज्यू माम वघै थारी जगत् मे जी  
 घणी शोभै हे बाई चन्द्रमा स्युं रात, तिम नारी नी जात  
 शील थकी शोभै घणी जी  
 जल विन नदी हे नहीं शोभै लिगार, तिम नारी शिणगार  
 शील बिना शोभै नहीं जी  
 शील बिना हे बाई लागे कुल ने कलङ्क, ज्यूं राजेसर लङ्क  
 कुल ने कलङ्क चढावियो जी  
 शील बिना हे बाई रुलियो अनेक, मैणरेहा ने विशेष  
 मणरय राजा मर नरके गयो जी



शील थकी हे सीता हुई कुम्भन्ती नार, ते गईं जनम सुधार  
 कुल निरमल कियो आपणो जी  
 शील थकी हे बन्धो द्रौपदी रो चोर, तिण पास्यो निरमल शील  
 जनम सुधास्यो आपरो जी  
 शील बिना हे बाइ घणा नर नार, गया जमारो द्वार  
 पकिया छै नरक निगोद में जी  
 शील थकी हे बाई घणा नर नार, गया जमारो सुधार  
 त्पारी जहा कीरत छै लोक मं जी  
 शील बिना ह बाइ जसोमती नौ आव, उतर गई छ सताब  
 शील बिना एक पलक मं जी  
 इसो शील हे बाइ पालो धन बित ल्याय, पाछो मन समन्नाय  
 बांछ तजो पर पुस्य नी जी  
 म्हारी मत खु हे बाई सोखावू छू तोम, नित्र कुल सामो ब्योम  
 पुस्य परायो परदहरो जी

रानी अभया—

'बचन काजे हो धायजी हरचन्द बकरीर आप्यो दूम घर नीर  
 नीच तणी सेवा करीजी  
 बचन काजे हो लक्ष्मण जे भी राम, त्पारी परसिध नाम  
 थारे बरस बनम रसाजी  
 बचन काजे हो हनुवन्त बकरीर, गयो लकरे तीर  
 सीताजी रे सदाकेजी  
 रामजी दोधो हा बभीषण न लंका नो राज, करी रावन रो अकाज  
 लका बभीषण जे थापियोजी

पांच पांडव हो धायजी वचना रे काज, गयो ज्यारो राज  
 नगर बैराट सेवा करी जी  
 वचन चूक्या हो त्यांसी नही रही शर्म, तिण रो ओहिज मर्म  
 तिण स्यु खपू छू म्हारे वचन ने जी”

**पण्डिता धाय :**

एहवा वचन हो राणी रा सुण धाय, फेर बोलै बले बाय  
 “इसड़ी घेठाई बाई मत करो जी  
 एहवा वचन हो सुणसी महाराज, तो थासी बड़ो रे अकाज  
 तुमने मोत कुमोते मारसी जी  
 और सगलो हे बाई तुम परसङ्ग, ते पिण होसी भङ्ग  
 इण वात में शङ्का को नही जी  
 तिण कारण हे बाई थाने कहू हू ताय, निज मन ल्यो समझाय  
 लीधी टेक पाछी परहरो जी”

**रानी अभया :**

“सेठजी ने हो धाय तुम ल्यावो छिपाय, ज्यु नही जाणै राय  
 पछै छानो पिण पोह्चायज्यो जी  
 छानो आणी हो छानो दीज्यो पहुचाय, ते किम जाणसी राय  
 थे चिन्ता करो किम कारणे जी”

**पण्डिता धाय :**

धाय भाखे “हे बाई छानी रहसी किम वात, राय करसी तुम वात  
 ए वात छिपाई बाई ना छिपै जी  
 पर पुरुष हे बाई जाणो ल्हसण समान, खावे खूणै वंसाण  
 जिहां जाय तिहां परगट हुवं जी

सेठ चाहवो हे बाई चम्पा नगर मन्तार, ये राय तणी पटनार  
ते तो छिपाई बाई ना छिपैजी'

### रानी अमया

"होणहार होणी है ज्यू होसी म्हारी धाय, सेठने ल्यावो वेग बुलाय  
नहीं तो कण्ठ कटारी सावी मरूं जी"

राणी का अन्तिम निणय सुन कर धाय को मर्माभिक वेदना होती है ।  
उसका चित्रण इस प्रकार है

सुणी ने हो राणी रा बैण, धाय हाखे आसूझा नण  
कर मसलै माथो धूणती जी  
मोटा कुल में हो होवे इसकी बात, तो किहो थी कुशलत  
कोई विघ्न होसी इन राज में जी  
पूमें सेव्या हे उठे आया दिसै पाप होसी बड्डलो सन्ताप  
बुसमें बुख उपनो घणो जी

कुसीला नारी कितनी निर्लज्ज होती है, यह अमया के चरित्र में सुन्दर रूप से अङ्कित हुआ है । पण्डिता धाय की हित शिक्षा स्वर्णाक्षरो में अङ्कित करने योग्य है । शील से पवित्र होने से जो लौकिक पारलौकिक बुराई होती है, प्रसंग यद्यपि उसका बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन आया है । "पर पुरख हे बाई जाणो भाई समान, ज्यू माम बधै थारी जगतमें जी"—कितना गम्भीर उपदेश पद है ! 'जैसे चन्द्रमा से रात घोभा पाती है, उसी तरह नारी-जाति शील से अत्यन्त घोभा पाती है ।' जिस तरह जल दूग्य नदी जरा भी घोभा नहीं पाती, उसी तरह शील बिना दूम्भार-भुसज्जित नारी भी घोभा नहीं पाती ।' नारी की रात्री और नदी के साथ, और शील की चन्द्रमा और जल के साथ उपमा कवि की महुरी मूल का परिचय देती है । "पर पुरख है बाई स्हसण समान सावे पुणे बघाण । जिहा जाय तिहा

परगट हुवै जी ।” पर पुरुष के साथ लहसुन की तुलना स्वामीजी के संस्कारी दृष्टान्तिक हेने का सुन्दर परिचय कराती है ।

मनोदशा के ऐसे ही अद्भुत और 'वारीक चित्र' इस काव्य में शुरू से आखिर तक विखरे हुए हैं । अभया रानी सुदर्शन को वश में न कर सकी, तब क्रोधित हो, उस पर झूठा इल्जाम लगा कर महाराज से उसे दण्डित कराने की चेष्टा करने लगी । महाराज ने सुदर्शन को शूली पर चढ़ाने का हुक्म दिया । यह बात नगर में हाथो-हाथ फैल गई । सुदर्शन जैसे सच्चरित्र व्यक्ति पर व्यभिचार का आरोप किसी को सत्य नहीं लगता था । गाव के लोगो ने मिलकर राजा से पुकार करने का निश्चय किया । 'इस तरह गाढी मन में धार'—उन्होंने राजा के पास जाकर जो अर्ज की, उसकी अन्तःस्थलता देख कर पाठक प्रफुल्लित हुए विना नहीं रहेंगे ।

राजा प्रजा की नहीं सुनता । अधिक सुदर्शन को शूली-स्थान की ओर ले जाने के लिए नगर के मध्य से होकर निकलते हैं । प्रजा में हाहाकार मच जाता है । अपने घर के सामने आने पर सुदर्शन को अपनी स्त्री मनोरमा से मिलने दिया जाता है । दृढधर्मी स्त्री-पुरुष की परस्पर विदाई अत्यन्त मनोहर और धर्म-रस पूर्ण होती है । मनोरमा अभिग्रह लेती है । अभया अपना पङ्क्यन्त्र सफल होते देख, हर्षित होती है । इन सबका बड़ा ही सुन्दर और हृदयग्राही वर्णन कवि ने अपनी इस कृति में किया है । सेठ सुदर्शन को शूली के पास खड़ा कर दिया जाता है । उस समय सुदर्शन की दृढता को ध्यान में रखने से दुःख में पड़े हुए कायर से कायर मनुष्य के हृदय में भी सत् विचारणा जागृत होकर सच्चा पुरुषार्थ जाग उठता है । पाठको को यह मनो-मुग्धकारी चित्र 'हम मूल पुस्तक में अवलोकन करने का आग्रह करते हैं ।